* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य १० रुपये

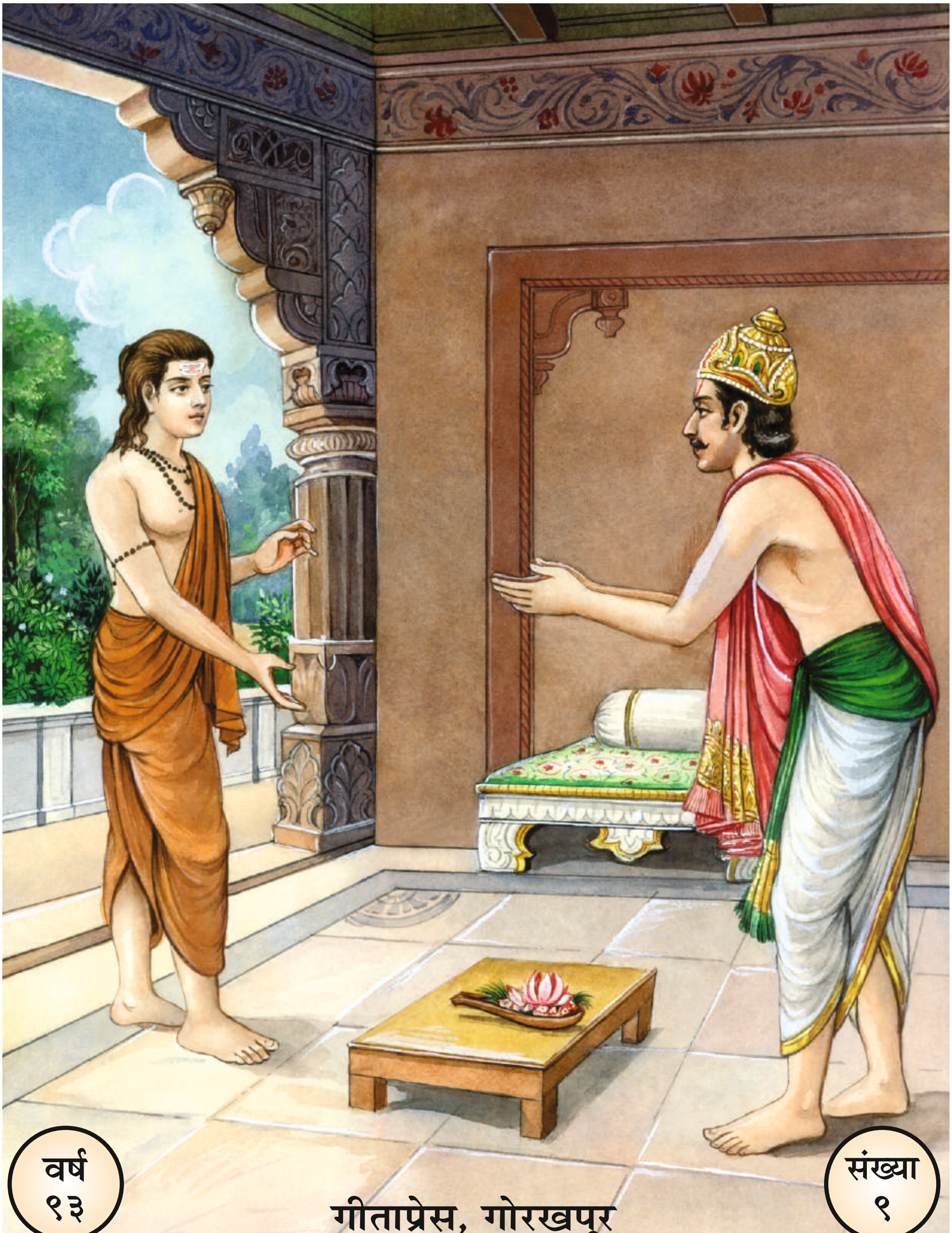

वर्ष ९३

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ९

महाराज रघु और कौत्स

आठ प्रमुख विनायक

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित—भगवान्‌के विभिन्न स्वरूपोंके महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

कोड	पुस्तक-नाम	मू०₹	कोड	पुस्तक-नाम	मू०₹
	भगवान् श्रीगणपति			**भगवान् श्रीकृष्ण**	
657	**श्रीगणेश-अङ्क**	१८०	26	**श्रीमद्भागवतमहापुराण**-सटीक	५६०
2024	**श्रीगणेशस्तोत्ररत्नाकर**	४०	27	(दो खण्डोंमें सेट)	
	भगवान् शिव		571	**श्रीकृष्णलीला-चिन्तन**	१८०
2223	**श्रीशिवमहापुराण**-सटीक	६००	1184	**कृष्णाङ्क**	२००
2224	(दो खण्डोंमें सेट)			**भगवान् श्रीराम**	
1985	**लिंगमहापुराण**-सटीक	२२०	1095	**श्रीरामचरितमानस**-सटीक (वि०सं०)	३३०
1417	**शिवस्तोत्ररत्नाकर**	३५		(अनेक आकार-प्रकारमें)	
1627	**रुद्राष्टाध्यायी** (सानुवाद)	३०	574	**योगवासिष्ठ**	१८०
	भगवान् विष्णु			**महाशक्ति भगवती**	
48	**श्रीविष्णुपुराण** (सटीक)	१५०	1897	**श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण**-सटीक	४८०
1364	,, (केवल हिन्दी)	१२०	1898	दो खण्डोंमें सेट	
639	**श्रीनारायणीयम्**	५०	41	**शक्ति-अङ्क**	२००
819	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्** (शांकरभाष्य)	३०	1610	**(महाभागवत) देवीपुराण**	१३०
1367	**श्रीसत्यनारायणव्रतकथा**	१५	1774	**श्रीदेवीस्तोत्ररत्नाकर**	४०

श्रीमद्भागवतमहापुराण

श्रीमद्भागवतमहापुराण—बेड़िया, सटीक, सजिल्द, मोटा टाइप—श्रीमद्भागवतमहापुराण सटीकको पत्राकारकी तरह बेड़िआ ग्रन्थाकार, मोटा टाइपमें प्रकाशित किया गया है, जिससे भागवतका पाठ करनेवालोंको सुविधा होगी एवं व्यास-पीठपर भी इसको प्रतिस्थापित किया जा सकता है। **(कोड 1951-1952)** दो खण्डोंमें सेट। दोनों खण्डोंका मूल्य ₹९००

श्रीमद्भागवतके अन्य संस्करण

श्रीमद्भागवतमहापुराण (कोड 26-27) सटीक दो खण्डोंमें सामान्य संस्करण। (ओड़िआ, बँगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, तमिल, मलयालय, अंग्रेजी)

श्रीमद्भागवत-सुधासागर (कोड 1930) **ग्रन्थाकार**—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, (गुजराती, मराठी, तेलुगु, कन्नड़ भी)

श्रीमद्भागवत-सुधासागर (कोड 1945) **ग्रन्थाकार**, विशिष्ट संस्करण

श्रीशुक-सुधासागर (कोड 25) बृहदाकार—भाषानुवाद

श्रीमद्भागवतमहापुराण (कोड 29)—मूल, मोटा टाइप (तेलुगु भी)

श्रीमद्भागवतमहापुराण (कोड 124)—मझला मूल

,, विशिष्ट संस्करण **(कोड 1855)**—,, मूल,

भागवतस्तुतिसंग्रह (कोड 1092)

श्रीप्रेमसुधासागर (कोड 30)—(गुजराती, ओड़िआ भी)

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध (कोड 31)

जीवन-संजीवनी (कोड 1927)— श्रीमद्भागवतके सफल व्यावहारिक जीवन-सूत्र।

भागवत नवनीत (कोड 2009)— श्रीडोंगरेजी महाराज

२५वाँ दिल्ली पुस्तक-मेला सन् २०१९—इस वर्ष भी प्रगति मैदान, नयी दिल्लीमें (दिनाङ्क ११ सितम्बर से १५ सितम्बर २०१९ तक) **हाल नं० 7 E, स्टॉल नं० 02** में गीताप्रेसद्वारा एक भव्य पुस्तक स्टॉल लगाकर विभिन्न भारतीय भाषाओंमें प्रकाशित अपने प्रकाशनोंको प्रदर्शन एवं बिक्रीकी व्यवस्था करनेका प्रयास है।

प्र० ति० 20-08-2019
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० 2308/57 पंजीकृत संख्या—NP/GR–13/2017–2019

LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT	LICENCE No. WPP/GR–03/2017–2019

गीता-दैनन्दिनी—गीता-प्रचारका एक साधन

(प्रकाशनका मुख्य उद्देश्य—नित्य गीता-पाठ एवं मनन करनेकी प्रेरणा देना।)
व्यापारिक संस्थान दीपावली/नववर्षमें इसे उपहारस्वरूप वितरित कर गीता-प्रचारमें सहयोग दे सकते हैं।

गीता-दैनन्दिनी (सन् २०२०) अब उपलब्ध—मँगवानेमें शीघ्रता करें।

पूर्वकी भाँति सभी संस्करणोंमें सुन्दर बाइंडिंग तथा सम्पूर्ण गीताका मूल-पाठ, बहुरंगे उपासनायोग्य चित्र, प्रार्थना, कल्याणकारी लेख, वर्षभरके व्रत-त्योहार, विवाह-मुहूर्त, तिथि, वार, संक्षिप्त पञ्चाङ्ग, रूलदार पृष्ठ आदि।

पुस्तकाकार—विशिष्ट संस्करण (कोड 1431)—दैनिक पाठके लिये गीता-मूल, हिन्दी-अनुवाद मूल्य ₹ ८५
सुन्दर प्लास्टिक आवरण (कोड 503)—गीताके मूल श्लोक एवं सूक्तियाँ मूल्य ₹ ७०
पॉकेट साइज— सुन्दर प्लास्टिक आवरण (कोड 506)— गीता-मूल श्लोक मूल्य ₹ ४०

बँगला (कोड 1489), ओड़िआ (कोड 1644), तेलुगु (कोड 1714) पुस्तकाकार—विशिष्ट संस्करण, अक्टूबर मासमें उपलब्धि सम्भावित। प्रत्येकका मूल्य ₹ ८५

नवीन प्रकाशन—अब उपलब्ध
सुन्दरकाण्ड (मूल) हनुमानचालीसासहित
(कोड 2234) मूल्य ₹६० के
एक पृष्ठके टाइपका नमूना

e-mail : booksales@gitapress.org—थोक पुस्तकोंसे सम्बन्धित सन्देश भेजें।
Gita Press web : gitapress.org—सूची-पत्र एवं पुस्तकोंका विवरण पढ़ें।
gitapressbookshop.in से गीताप्रेसकी खुदरा पुस्तकें Online कूरियरसे/डाकसे मँगवायें।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यज्जापः सकृदेव गोकुलपतेराकर्षकस्तत्क्षणाद्यत्र प्रेमवतां समस्तपुरुषार्थेषु स्फुरेत्तुच्छता।
यन्नामाङ्कितमन्त्रजापनपरः प्रीत्या स्वयं माधवः श्रीकृष्णोऽपि तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेति वर्णद्वयम्॥

वर्ष ९३ | गोरखपुर, सौर आश्विन, वि० सं० २०७६, श्रीकृष्ण-सं० ५२४५, सितम्बर २०१९ ई० | संख्या ९

पूर्ण संख्या १११४

अष्टगणपति-स्थान-स्मरण

स्वस्ति श्रीगणनायकं गजमुखं मोरेश्वरं सिद्धिदम्।
बल्लालं मुरुडं विनायकमढं चिन्तामणिं थेवरम्॥
लेह्याद्रिं गिरिजात्मजं सुवरदं विघ्नेश्वरं ओझरम्।
ग्रामे रांजणसंस्थितो गणपतिः कुर्यात् सदा मङ्गलम्॥

गजके समान मुखवाले गणोंके नायक (श्रीगणेशजी) हमारा कल्याण करें। १. मोरेश्वर (मोरगाँवके मयूरेश्वर), २. सिद्धिदम् (सिद्धटेकके सिद्धिविनायक), ३. बल्लाल (पालीके बल्लालेश्वर), ४. मढ़के विनायक (मढ़ अर्थात् महड़के वरदविनायक), ५. थेवरके चिन्तामणि (थेवर अर्थात् थेऊरके चिन्तामणि), ६. सुन्दर वर देनेवाले लेह्याद्रीके गिरजात्मज, ७. ओझरके विघ्नेश्वर, ८. रांजणगाँवमें स्थित (महा) गणपति हमारा सदा मंगल करें।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,००,०००)

कल्याण, सौर आश्विन, वि० सं० २०७६, श्रीकृष्ण-सं० ५२४५, सितम्बर २०१९ ई०

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

१- अष्टगणपति-स्थान-स्मरण ३
२- कल्याण........ ५
३- महाराज रघु और कौत्स [आवरणचित्र-परिचय] ६
४- ब्रह्मचर्य (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७
५- नाम-साधना (समर्थ सद्‌गुरु श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज गोंदवलेकर) ९
६- भगवन्नाममय जीवन १०
७- सब कुछ भगवान्‌की पूजाके लिये हो (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ... ११
८- कर्मफल [जगद्‌गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज]. १२
९- साधनामें बाधक रोग और ऋण (साधुवेषमें एक पथिक) १३
१०- दिव्य दाम्पत्य १५
११- भगवान्‌के साथ अपनापन रखें [साधकोंके प्रति—] (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) १६
१२- भक्तिके चार आयाम (डॉ० शैलजाजी अरोड़ा) १९
१३- अपने उद्धारके लिये खास बातें (श्रीबरजोरसिंहजी) २१
१४- तुलसीकी दृष्टिमें सच्चे सन्त और ढोंगी असन्त (श्रीअर्जुनलालजी बंसल) २२
१५- साधकोपयोगी उपदेशामृत (गोलोकवासी सन्त श्रीगयाप्रसादजी महाराज) २४
१६- 'ही' और 'भी'में सन्तुलन (ब्रह्मचारी श्रीत्र्यम्बकेश्वरचैतन्यजी महाराज, अखिलभारतवर्षीय धर्मसंघ) २५
१७- जनकनन्दिनी सीताका वनगमन-आग्रह (श्रीजगदीश प्रसादजी गुप्ता) २७
१८- नेक कमाईकी बरकत (श्रीनारायणदासजी बाजोरिया) २९
१९- संत-स्मरण (परम पूज्य देवाचार्य श्रीराजेन्द्रदासजी महाराजके गीताभवन, ऋषिकेशमें हुए प्रवचनसे साभार) ३१
२०- प्रलोभनके आगे न झुकिये (डॉ० श्रीरामचरणमहेन्द्रजी, एम०ए०, पी-एच०डी०) ३२
२१- रुपया मिला और भजन छूटा........ ३४
२२- संत-वचनामृत (वृन्दावनके गोलोकवासी सन्त पूज्य श्रीगणेशदासजी भक्तमालीके उपदेशपरक पत्रोंसे) ३५
२३- लालसा और विश्राम [प्रेरणा-पथ—] (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज) ३६
२४- दुःख क्यों हो? ३७
२५- परम तपस्वी श्रीशिवबाला योगीजी महाराज [सन्त-चरित—] (डॉ० श्रीउमेशचन्द्रजी जोशी, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०). ३८
२६- दूषित अन्नका प्रभाव ४१
२७- गोसेवासे भयंकर चर्मरोगसे मुक्ति मिली (श्रीरामसुहावनजी यादव) ४२
२८- साधनोपयोगी पत्र ४३
२९- व्रतोत्सव-पर्व [आश्विनमासके व्रतपर्व] ४५
३०- कृपानुभूति ४६
३१- पढ़ो, समझो और करो ४७
३२- मनन करने योग्य ५०

चित्र-सूची

१- महाराज रघु और कौत्स .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ
२- आठ प्रमुख विनायक........ (”) .... मुख-पृष्ठ
३- महाराज रघु और कौत्स........ (इकरंगा) ६
४- श्रीरामद्वारा सीताको वनगमनकी अनुमति .... (”) २८
५- सुकन्याकी चंचलता........ (”) ५०

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क ₹ २५०

पंचवर्षीय शुल्क ₹ १२५०

विदेशमें शुल्क Air Mail — **वार्षिक** US$ 50 (₹ 3,000); **पंचवर्षीय** US$ 250 (₹ 15,000) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**
आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**
सम्पादक—**राधेश्याम खेमका,** सहसम्पादक—**डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़**
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | ✆ **09235400242 / 244**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**
Online सदस्यता हेतु gitapress.org पर **Kalyan** या **Kalyan Subscription** option पर click करें।
अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क gitapress.org अथवा **book.gitapress.org** पर निःशुल्क पढ़ें।

कल्याण

याद रखो—जगत्में जितने भी प्राणी हैं, सब तुम्हारे अपने आत्मा ही हैं, उनमें कोई भी पराया नहीं है, कोई भी दूसरा नहीं है। जैसे तुम्हारे एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अंग तुम्हारे शरीरके ही अवयव हैं, सबको लेकर ही शरीर है, इसी प्रकार सबको लेकर ही तुम हो।

याद रखो—तुम उन्हें अपना आत्मा न समझकर दूसरा समझते हो, इसीसे उनके सुख-दुःखसे उदासीन रहते हो। अपना समझते तो कभी ऐसा नहीं करते। क्या शरीरके किसी भी अंगमें चोट लगनेपर तुम यह मानते हो कि चोट किसी दूसरेको लगी है? क्या तुम्हें उसके लिये वेदनाका अनुभव नहीं होता? होता है। क्यों? इसीलिये कि तुम्हारा उन सबमें आत्मभाव है।

याद रखो—तुम सबके हितकी परवा न करके उन्हें कष्ट पहुँचाकर यदि केवल अपना भला चाहते हो, अपने लिये सुख चाहते हो तो न तो तुम्हारा कदापि भला होगा, न तुम्हें सुख ही मिलेगा। भला, अपने ही हाथों अपने अंगोंको काटकर क्या कोई कभी सुखी हो सकता है?

याद रखो—समाजमें जाति, सम्प्रदाय आदि भेद केवल समाजकी व्यवस्थाका सुचारुरूपसे संचालन हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने मार्गसे चलकर जीवनके परम लक्ष्य भगवान्को प्राप्त कर सके, इसके लिये है। और यह आवश्यक तथा उचित भी है; परंतु इसका यह अर्थ कभी नहीं कि इस भेदसे आत्मामें कोई भेद आ जाता है और दूसरेके हितका नाश करके कोई सुखी हो सकता है।

याद रखो—जो व्यक्ति विश्वात्माके साथ अपनेको मिलाकर सारे विश्वके समस्त जीवोंको अपने ही रूपमें देखता है, और सबके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख मानकर, जैसे अपने दुःखको दूर करनेकी और सुख प्राप्त करनेकी स्वाभाविक चेष्टा करता है, वैसे ही सबके लिये करने लगता है, उसका जीवन ही यथार्थ मनुष्य-जीवन है और वही जीवन धन्य है।

याद रखो—स्वार्थ जितना संकुचित होता है, उतना ही गंदा और हानिकर होता है, जैसे छोटे-से गढ़ेमें एकत्र हुआ जल सड़ जाता है और उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। यदि तुम्हारा स्वार्थ अखिल जगत्के स्वार्थके साथ मिल जाय, विश्वके प्राणियोंका स्वार्थ ही तुम्हारा स्वार्थ हो तो फिर तुम्हारा वह स्वार्थ पवित्र और लाभदायक होगा। उससे स्वाभाविक ही विश्वात्मा भगवान्की पूजा होती रहेगी।

याद रखो—जो पुरुष यह अनुभव करता है कि यह सारा जगत्—जगत्के समस्त प्राणी मेरे भगवान्से ही निकले हैं, और भगवान् ही सदा सबमें व्याप्त हैं, वह अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्को पूजकर जीवनको अनायास ही सफल कर सकता है। उसके लिये प्रत्येक जीव भगवान्का स्वरूप और उसका अपना प्रत्येक कर्म उस भगवान्की पूजा बन जाता है। और जिसके द्वारा निरन्तर भगवान्की पूजा ही होती है, उसको जीवनमें परम सिद्धि—भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें सन्देह ही क्या है?

याद रखो—यदि तुम क्षुद्र सीमाको छोड़कर जाति, वर्ण, अधिकार, धन, देश आदिके भेदोंको आत्माके भेद न मानकर विश्वरूप भगवान्की पूजामें अपना जीवन लगा दोगे तो तुम्हें पद-पदपर और पल-पलमें भगवान्के दर्शन होंगे और तुम्हारा जीवन परम पवित्र तथा सबके लिये आदर्श बन जायगा। **'शिव'**

आवरणचित्र-परिचय—

महाराज रघु और कौत्स

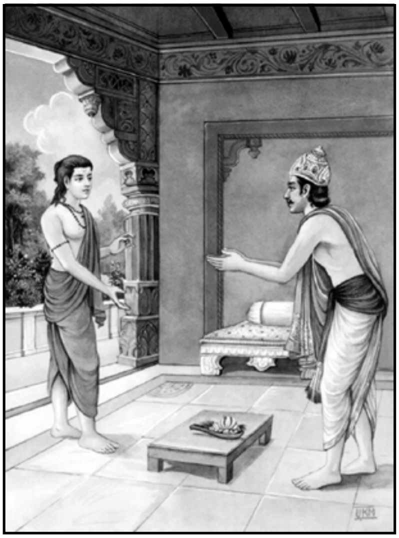

'आज मैं कृतार्थ हुआ! आप-जैसे तपोनिष्ठ वेदज्ञ ब्रह्मचारीके स्वागतसे मेरा गृह पवित्र हो गया। आपके गुरुदेव श्रीवरतन्तु मुनि अपने तेजसे साक्षात् अग्निदेवके समान हैं। उनके आश्रमका जल निर्मल एवं पूर्ण तो है? वर्षा वहाँ ठीक समयपर होती है न? आश्रमके नीवार समयपर पकते हैं तो? आश्रमके मृग एवं तरु पूर्ण प्रसन्न हैं न? आपका अध्ययन पूर्ण हो गया होगा। अब आपके गृहस्थाश्रममें प्रवेशका समय है। मुझे कृपापूर्वक कोई सेवा सूचित करें। मैं इसमें अपना सौभाग्य मानूँगा।' ब्राह्मणकुमार कौत्सका महाराज रघुने स्वागत किया था। महाराजके कुशल-प्रश्न शिष्टाचारमात्र नहीं थे। उनका तात्पर्य था। इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, वनदेवता, पृथ्वी—सबको वे दण्डधर शासित कर सकते थे। तपोमूर्ति ऋषियोंके आश्रममें विघ्न करनेका साहस किसी देवताको भी नहीं करना चाहिये।

'आप-जैसे धर्मज्ञ एवं प्रजावत्सल नरेशके राज्यमें सर्वत्र मंगल सहज स्वाभाविक है। आश्रममें सर्वत्र कुशल है। मैंने गुरुदेवसे अध्ययनके अनन्तर गुरुदक्षिणा माँगनेका आग्रह किया। वे मेरी सेवासे ही सन्तुष्ट थे; पर मेरे बार-बार आग्रह करनेपर उन्होंने चौदह कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ माँगीं; क्योंकि मैंने उनसे चतुर्दश विद्याओंका अध्ययन किया है।

नरेन्द्र! आपका मंगल हो। मैं आपको कष्ट नहीं दूँगा। पक्षी होनेपर भी चातक सर्वस्व अर्पितकर सहज शुभ्र बने घनोंसे याचना नहीं करता। आप अपने त्यागसे परमोज्ज्वल हैं। मुझे अनुमति दें।' कौत्सने देखा था कि महाराजके शरीरपर एक भी आभूषण नहीं है। मिट्टीके पात्रोंमें उस चक्रवर्तीने अतिथिको अर्घ्य एवं पाद्य निवेदित किया था। यज्ञान्तमें महाराजने सर्वस्व दान कर दिया था। राजमुकुट और राजदण्डके अतिरिक्त उनके समीप कुछ नहीं था।

'आप पधारे हैं तो मुझपर दया करके तीन दिन मेरी अग्निशालामें चतुर्थ अग्निकी भाँति सुपूजित होकर निवास करें! रघुके यहाँसे सुयोग्य वेदज्ञ ब्राह्मण निराश लौटे, यह कैसे सहा जाय। कौत्सको महाराजकी प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी।'

'मैं आज रथमें शयन करूँगा। उसे शस्त्रोंसे सज्जित कर दो! कुबेरने कर नहीं दिया।' यज्ञके अवसरपर सम्पूर्ण नरेश कर दे चुके थे। सम्पूर्ण कोश दान हो चुका। अतिथिकी याचना पूरी किये बिना भवनमें प्रवेश भी अनुचित जान पड़ा। कुबेर तो दूसरे देवताओंके समान स्वर्गमें नहीं रहते। उनकी अलका हिमालयपर ही तो है। तब वे भी चक्रवर्तीके एक सामन्त ही हैं। कर देना चाहिये उन्हें। महाराजने प्रातः अलकापर आक्रमणका निश्चय किया।

'देव! कोशागारमें स्वर्ण-वर्षा हो रही है।' ब्राह्ममुहूर्तमें महाराज नित्यकर्मसे निवृत्त होकर रथपर बैठे। उन्होंने शंखध्वनि की। इतनेमें दौड़ते हुए कोशाध्यक्षने निवेदन किया। वे कोशागारके प्रातःपूजनको गये थे। कुबेरने इस प्रकार कर दिया।

'यह द्रव्य आपके निमित्त आया है। ब्राह्मणके निमित्त प्राप्त द्रव्यमेंसे मैं या मेरी प्रजा कोई अंश कैसे ले सकती है?' महाराजका आग्रह ठीक ही था।

'मैं ब्राह्मण हूँ।' 'शिल' या 'कण' मेरी विहित वृत्ति है। गुरुदक्षिणाकी चौदह कोटि मुद्राओंसे अधिक एकका भी स्पर्श मेरे लिये लोभ तथा पाप है।' ब्रह्मचारी कौत्सका कहना भी उचित ही था। आजके युगमें, जब मनुष्य दूसरोंके स्वत्वका हरण करनेको नित्य सोत्साह उद्यत है, यह त्यागमय विवाद कैसे समझ सकेगा वह। ब्रह्मचारी चौदह कोटि मुद्रा ले गये। शेष ब्राह्मणोंको दान हो गयीं।

ब्रह्मचर्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ब्रह्मचर्यका यौगिक अर्थ है ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये वेदोंका अध्ययन करना। प्राचीन कालमें छात्रगण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये गुरुके यहाँ रहकर सावधानीके साथ वीर्यकी रक्षा करते हुए वेदाध्ययन करते थे। इसलिये धीरे-धीरे 'ब्रह्मचर्य' शब्द वीर्यरक्षाके अर्थमें रूढ़ हो गया। आज हमें इसी वीर्यरक्षाके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यका नाश ही मृत्यु है। वीर्यरक्षाके प्रभावसे ही प्राचीनकालके लोग दीर्घजीवी, नीरोग, हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, बुद्धिमान्, तेजस्वी, शूरवीर और दृढ़संकल्प होते थे। वीर्यरक्षाके कारण ही वे शीत, आतप, वर्षा आदिको सहकर नाना प्रकारके तप करनेमें समर्थ होते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे प्राणवायुको रोककर शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा नाना प्रकारके योग-साधनोंमें सफलता प्राप्त करते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे थोड़े ही समयमें नाना प्रकारकी विद्याओंको सीखकर अपने ज्ञानके द्वारा अपना और जगत्का लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका कल्याण करनेमें समर्थ होते थे। शरीरमें सार वस्तु वीर्य ही है। इसीके नाशसे आज हमारा देश रसातलको पहुँच गया है। ब्रह्मचर्यके नाशके कारण ही आज हमलोग नाना प्रकारकी बीमारियोंके शिकार हो रहे हैं, थोड़ी ही अवस्थामें कालके गालमें जा रहे हैं। इसीके कारण आज हमलोग अपने बल, तेज, वीरता और आत्मसम्मानको खोकर पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े हुए हैं और जो हमारा देश किसी समय विश्वका सिरमौर और सभ्यताका उद्गमस्थान बना हुआ था, वही आज दूसरोंके द्वारा लांछित और पददलित हो रहा है। विद्या-बुद्धि, बल-वीर्य, कला-कौशल—सबमें आज हम पिछड़े हुए हैं। इसीके कारण आज हम चरित्रसे भी गिर गये हैं। सारांश यह है कि किसी भी बातको लेकर आज हम संसारके सामने अपना मस्तक ऊँचा नहीं कर सकते। वीर्यका नाश ही हमारी इस गिरी हुई दशाका प्रधान कारण मालूम होता है। वीर्यके नाशसे शरीर, बल, तेज, बुद्धि, धन, मान, लोक, परलोक—सबकी हानि होती है। परमात्माकी प्राप्ति तो वीर्यकी रक्षा न करनेवालोंसे कोसों दूर रहती है।

ब्रह्मचर्यके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। रोगसे मुक्त होनेके लिये, स्वास्थ्यलाभके लिये, बल-बुद्धिके विकासके लिये, विद्याभ्यासके लिये तथा योगाभ्यासके लिये भी ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। उत्तम सन्तानकी प्राप्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, सिद्धियोंकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा परमात्माकी प्राप्ति—सब कुछ ब्रह्मचर्यसे सम्भव है और ब्रह्मचर्यके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। सांख्ययोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयोग—सभी साधनोंमें ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता होती है। अतः लोक-परलोकमें अपना हित चाहनेवालेको बड़ी सावधानी एवं तत्परताके साथ वीर्यरक्षाके लिये चेष्टा करनी चाहिये।

सब प्रकारके मैथुनके त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है। मैथुनके निम्नलिखित प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं—

(१) **स्मरण**—किसी सुन्दर युवती स्त्रीके रूप-लावण्य अथवा हाव, भाव, कटाक्ष एवं शृंगारका स्मरण करना, कुत्सित पुरुषोंकी कुत्सित क्रियाओंका स्मरण करना, अपने द्वारा पूर्वमें घटी हुई मैथुन आदि क्रियाका स्मरण करना, भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका संकल्प अथवा भावना करना, माला, चन्दन, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि कामोद्दीपक एवं शृंगारके पदार्थोंका स्मरण करना, पूर्वमें देखे हुए किसी सुन्दर स्त्री अथवा बालकके चित्रका अथवा गन्दे चित्रका स्मरण करना—ये सभी मानसिक मैथुनके अन्तर्गत हैं। इनसे वीर्यका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपमें नाश होता है और मनपर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है। मन खराब होनेसे आगे चलकर वैसी क्रिया भी घट सकती है। इसलिये सर्वांगमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके मैथुनका त्याग कर दे, जिससे मनमें कामोद्दीपन हो, ऐसा कोई संकल्प ही न करे और यदि हो जाय तो उसका तत्काल

विवेक एवं विचारके द्वारा त्याग कर दे।

(२) श्रवण—गन्दे तथा कामोद्दीपक एवं शृंगार-रसके गानोंको सुनना, शृंगाररसका गद्य-पद्यात्मक वर्णन सुनना, स्त्रियोंके रूप-लावण्य तथा अंगोंका वर्णन सुनना, उनके हाव, भाव, कटाक्षका वर्णन सुनना, कामविषयक बातें सुनना—ये सभी श्रवणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके श्रवणका त्याग कर दे।

(३) कीर्तन—अश्लील बातोंका कथन, शृंगाररसका वर्णन, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृंगारकी प्रशंसा तथा उनके हाव, भाव, कटाक्ष आदिका वर्णन, विलासिताका वर्णन, कामोद्दीपक अथवा गन्दे गीत गाना तथा ऐसे साहित्यको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको सुनाना तथा कथा आदिमें ऐसे प्रसंगोंको विस्तारके साथ कहना—ये सभी कीर्तनरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह इन सबका त्याग कर दे।

(४) प्रेक्षण—स्त्रियोंके रूप-लावण्य, शृंगार तथा उनके अंगोंकी रचनाको देखना, किसी सुन्दरी स्त्री अथवा सुन्दर बालकके चित्रको देखना, शृंगार-रसके नाटक-सिनेमा देखना, कामोद्दीपक वस्तुओं तथा सजावटके सामानको देखना, दर्पण आदिमें अपना रूप तथा शृंगार देखना—यह सभी प्रेक्षणरूप मैथुनके अन्तर्गत है। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह जान-बूझकर तो इन वस्तुओंको देखे ही नहीं; यदि भूलसे इनपर दृष्टि पड़ जाय तो इन्हें स्वप्नवत्, मायामय, नाशवान् एवं दुःखरूप समझकर तुरंत इनपरसे दृष्टि हटा ले, दृष्टिको इनपर ठहरने न दे।

(५) केलि—स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना, नाचना-गाना, आमोद-प्रमोदके लिये क्लब वगैरहमें जाना, जलविहार करना, फाग खेलना, गन्दी चेष्टाएँ करना—ये सभी केलिरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(६) शृंगार—अपनेको सुन्दर दिखलानेके लिये बाल सँवारना, कंघी करना, काकुल रखना, शरीरको वस्त्राभूषणादिसे सजाना, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदिका व्यवहार करना, फूलोंकी माला धारण करना, अंगराग लगाना, सुरमा लगाना, उबटन करना, साबुन-तेल लगाना, पाउडर लगाना, दाँतोंमें मिस्सी लगाना, दाँतोंमें सोना जड़वाना, शौकके लिये बिना आवश्यकताके चश्मा लगाना, होठ लाल करनेके लिये पान खाना—ये सभी शृंगारके अन्तर्गत हैं। दूसरोंके चित्तको आकर्षण करनेके उद्देश्यसे किया हुआ यह सभी शृंगार कामोद्दीपक, अतएव मैथुनका अंग होनेके कारण ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है। कुमारी कन्याओं, बालकों, विधवाओं, संन्यासियों एवं वानप्रस्थोंको भी उक्त सभी प्रकारके शृंगारसे सर्वथा बचना चाहिये। विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी ऋतुकालमें सहवासके समयके अतिरिक्त और समयमें इन सभी शृंगारोंसे यथासम्भव बचना चाहिये।

(७) गुह्यभाषण—स्त्रियोंके साथ एकान्तमें अश्लील बातें करना, उनके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृंगारकी प्रशंसा करना, हँसी-मजाक करना—यह सभी भाषणरूप मैथुनके अन्तर्गत है, अतएव ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है।

(८) स्पर्श—कामबुद्धिसे किसी स्त्री अथवा बालकका स्पर्श करना, चुम्बन करना, आलिंगन करना, कामोद्दीपक तथा कोमल पदार्थोंका स्पर्श करना तथा स्त्रीसंग करना—ये सभी स्पर्शरूप मैथुनके अन्तर्गत आते हैं, अतएव ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवालेके लिये त्याज्य हैं।

उपर्युक्त बातें पुरुषोंको लक्ष्यमें रखकर ही कही गयी हैं। स्त्रियोंको भी पुरुषोंके सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिये। पुरुषोंको परस्त्रीके साथ और स्त्रियोंको परपुरुषके साथ तो इन आठों प्रकारके मैथुनका त्याग हर हालतमें करना ही चाहिये, ऐसा न करनेवाले महान् पापके भागी होते हैं और इस लोकमें तथा परलोकमें महान् दुःख भोगते हैं। गृहस्थोंको अपनी विवाहिता पत्नीके साथ भी ऋतुकालकी अनिन्दित रात्रियोंको छोड़कर शेष समयमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनसे बचना चाहिये। ऐसा करनेवाले गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी हैं। बाकी तीन आश्रमवालों तथा विधवा स्त्रियोंके लिये तो सभी अवस्थाओंमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनका त्याग सर्वथा अनिवार्य है।

नाम-साधना

(समर्थ सद्‌गुरु श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज गोंदवलेकर)

अन्त समय सधनेके लिये नामस्मरण

अन्त समय अर्थात् मृत्युका समय। उस वक्त नामस्मरण होनेका तात्पर्य है अन्त समय सध जाना। अन्त समय सध जानेके लिये पहले नामस्मरण करनेकी आदत होनी चाहिये। अन्त समय सफल होनेके लिये ही जीवित रहना चाहिये। जहाँ भगवान् रहते हैं, वहीं हमारा घर है। वर्तमान स्थितिमें जहाँ हम रहते हैं, वह किरायेका घर है। किरायेका घर छोड़कर अपने निजी मकानमें रहनेके लिये जाते समय जैसे हमें हर्ष होता है, वैसा ही आनन्द हमें अपना शरीर छोड़ते समय होना चाहिये। भगवान्‌का घर ही हमारा घर है, इसका विश्वास होगा तब सभी बातें सुलझ जायँगी। इसलिये भगवान्‌का निरन्तर नामस्मरण करना चाहिये। भगवान्‌से यह माँगा जाय, 'हे भगवन्! तुम मुझे अपना मानो, मैंने अपना मन तुम्हारे चरणोंमें अर्पण कर दिया है, अब मुझे आपसे कुछ भी माँगना नहीं है।' निरन्तर यह मानना चाहिये कि भगवान् मेरे आगे-पीछे, सब जगह हैं। भगवान्‌का स्मरण रखनेका मतलब है, 'मैं जो कुछ कर रहा हूँ, मुझसे जो कुछ हो रहा है, वह उन्हींके कारण ही हो रहा है, ऐसा मानना।' गृहस्थीको ईश्वरका वरदान मानकर, उसे अभिमान-रहित होकर सफल करना ही परमार्थ है। परमात्माके सिवाय हमारा कोई नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाना ही ज्ञान है। यह ज्ञान यदि हो गया तो मानो कि मनुष्य सच्चे अर्थसे परमात्माकी प्राप्तिकी साधनामें लग गया। ऐसी साधनाके कारण परमात्माके सिवाय अन्य किसी बातमें मनुष्यको रुचि नहीं होती। इस प्रकारकी अत्यन्त रुचिको ही भक्ति कहते हैं। इसी भक्तिकी परिपूर्णता अन्त समय सधनेमें सहायक होती है। इसके लिये अखण्ड नामस्मरण या निरन्तर अनुसन्धान ही एकमात्र साधन है। अन्त समयमें जो नामस्मरण करते हैं, उनकी विषय-वासना नष्ट हो गयी ऐसा नहीं होता, वह तत्काल विषय-वासनासे मुक्त नहीं होता, लेकिन अगले जन्ममें वह सत्त्वगुणयुक्त होकर जन्म पायेगा। भगवत्प्राप्तिकी वृत्ति जिसमें होती है, वह सात्त्विक वृत्तिका होता है।

प्राणमें खण्ड नहीं होता, उसी प्रकार साधनामें खण्ड नहीं होना चाहिये। प्राण यानी श्वास-प्रश्वासकी क्रिया। यह क्रिया सहज, अभिमानरहित होकर निरन्तर, विना रुके चलती है, वैसे नामस्मरण भी उसी तरह चलता रहे। गृहस्थीमें लगन नहीं होनी चाहिये। हमारा व्यवहार गुरुकी आज्ञाके अनुसार होना चाहिये। हमारा कई जन्मोंसे देहके साथ सहवास होता है, फलतः देहके प्रति प्रेम हो जाता है, इसलिये देहबुद्धि निर्माण होती है। यदि उसी प्रकार नामस्मरणसे हमारा निरन्तर सहवास होगा यानी निरन्तर नामस्मरण करते रहेंगे तो विषयासक्ति कम होती रहेगी और नामसे प्रेम हो जायगा। योग-साधनामें असीम कष्ट होते हैं, इस युगमें योगसिद्धि होना असम्भव है। कर्ममें अभिमान होता है और वह निरन्तर बढ़ता रहता है। भक्तिमें कष्ट नहीं होता, भक्ति करते-करते अहंकार अपने-आप गलता है। 'योग और कर्म' ये दो साधन परमात्माके गोद लिये हुए पुत्रके समान हैं तो भक्ति साधन स्वपुत्रके समान है। भगवान्‌को दृष्टिसे ओझल न होने देना ही सच्ची भक्ति है, यही सच्चा अनुसन्धान है, यही सच्चा परमार्थ है और यही हमारा सर्वस्व है।

नाम परमात्माके पास पहुँचनेका राजमार्ग है

सभी साधनोंमें नामस्मरण ही श्रेष्ठ साधन है, पर उसका महत्त्व समझमें नहीं आता। उसे समझनेके लिये वास्तवमें भगवत्कृपा ही चाहिये। हमारे शरीरमें मुख्य हृदय है और शेष अवयव गौण हैं, नामस्मरण मंगलोंमें मंगल और अत्यन्त पवित्र है। यह पक्का ध्यानमें रखिये कि अपना जीवन भगवान्‌के अधीन है और भगवान् नामस्मरणके अधीन हैं।

योगमें योग करते रहनेतक ही सन्तोष रहता है, जबकि नामस्मरणके अनुसन्धानमें सतत सन्तोष बना रहता है। निर्गुणकी उपासना स्वयं निर्गुण हुए बिना नहीं होती। प्रकाश दिखायी देना, ध्वनि सुनायी देना—क्या ये सब बातें सगुण नहीं हैं? निर्गुण होनेके लिये देहबुद्धि छूटनी चाहिये। सर्वव्यापी परमेश्वरको सब जीवोंमें देखना ही निर्गुण उपासना है। योग जितना नामस्मरणके लिये पोषक हो, उतना ही करना चाहिये; केवल उसीको प्रधानता नहीं देनी चाहिये। योग नामस्मरणके लिये पोषक है, किंतु नामस्मरण योगसे परे है। अतः नामस्मरणमें योग आता है, लेकिन योगमें नामस्मरण नहीं आता। सभी साधनोंका अन्त नामस्मरणमें है, नामस्मरण-साधन तेज रेलगाड़ीकी तरह है। रंग दिखायी देना, ध्वनि सुनायी देना, प्रकाश दिखायी देना—इन बीचके स्टेशनोंको छोड़कर नामस्मरण सीधे तत्काल भगवान्के पास पहुँचा देता है। ऐसा लगेगा कि अन्य साधनोंके द्वारा हमारा साध्य जल्दी सध रहा है, लेकिन वह तात्कालिक होगा। नामस्मरणके कारण थोड़ी देर लगेगी, लेकिन जो सधेगा, वह स्थायी रूपसे सधेगा; क्योंकि नामस्मरणके कारण मौलिक सुधार होगा, जड़से सुधार होगा। नामस्मरण परमात्माके पास पहुँचनेका राजमार्ग है। नामस्मरणमें आनन्दके सिवाय और कुछ भी नहीं है। नामस्मरणके आनन्दका चस्का और झटका लगते ही मनुष्य स्वयंको भूल जायगा। संत तुकाराम महाराजकी वाणी काबूमें नहीं रही, वह अनवरत नामस्मरण करने लगी। मतलब यह कि उनकी कल्पनासे परे नामस्मरण होने लगा। गाड़ी उतारपर आनेपर जैसे उसकी गति बढ़ जाती है और रोकनेपर भी नहीं रुकती, वैसे ही यह स्थिति है। हमारी शक्तिसे अधिक कार्य सफल होना भगवान्की कृपा है।

चार आदमी थे। उन सबको एक ही तरहकी बीमारी हुई थी, लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति समान नहीं थी। वैद्यजीने उनमेंसे सबसे गरीब आदमीको दवा तुलसीके रसमें लेनेको कहा, उससे अधिक पैसेवालेसे वही दवा शहदमें लेनेको कहा, उससे भी अधिक पैसेवालेसे वही दवा केसरके साथ लेनेको कहा और उनमेंसे जो सबसे अमीर था, उससे वही दवा कस्तूरीके साथ लेनेको कहा। उसी प्रकार जिसका जैसा अधिकार है, वैसा वह नामस्मरण करे। नाम केवल मुँहसे न लिया जाय, नाम श्रद्धासे लिया जाय, नाम वृत्तिको सँभालकर लिया जाय, नामके सिवाय और कोई सत्य संसारमें नहीं है, इसी दृढ़ भावनासे लिया जाय; सबको समान फल मिलेगा।

[संग्राहक—श्री गो०सी० गोखले]

भगवन्नाममय जीवन

लोग उन्हें काछी बाबा कहते थे। वे जातिके काछी थे और साधु होनेसे नहीं, वृद्ध होनेसे उस प्रदेशकी प्रथाके अनुसार बाबा कहलाते थे। वैसे वे बगीचेमें मजदूरीका काम करते थे, दिनभर परिश्रम करते थे। शामको सरोवरके किनारे मालती-कुंजके नीचे रोटियाँ सेंककर खा लेते और वहीं सो रहते थे।

रात्रिमें किसीको शौच जाना हो तो मालती-कुंजवाले घाटपर ही हाथ धोनेकी सुविधा थी। घाटपर पहुँचते ही स्पष्ट सुनायी पड़ता था—'राम, राम, राम'। यह किसीकी जप-ध्वनि नहीं थी। निद्रामग्न काछी बाबाके श्वाससे यह स्पष्ट ध्वनि आया करती थी।

एक दिन काछी बाबाने नगरमें आकर बगीचेके स्वामीसे रसगुल्ला खानेकी इच्छा प्रकट की। भर-पेट रसगुल्ला खिलाया गया उन्हें। दूसरे दिन फिर पूछा गया—'काछी बाबा! रसगुल्ला खाओगे?'

काछी बाबा बोले—'बाबू! ऐसा पाप मैं फिर कभी नहीं करूँगा। मिठाई खानेसे मेरे रामजी रात नहीं आये।'

नित्य वे वृद्ध श्रीरामजीका दर्शन पाते थे। उन्होंने फिर कभी मिठाई खायी ही नहीं।

सब कुछ भगवान्‌की पूजाके लिये हो

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

श्रीभगवान्‌को छोड़कर संसारमें सभी दुःखमय है। यहाँ जो सुख दीखता है, वह यदि वास्तविक है तो भगवान्‌के सुख-समुद्रका कोई एक कणमात्र है। और यदि वास्तविक नहीं है तो सुखके रूपमें दुःख ही सामने आ रहा है। उसका रूप वैसे ही छिपा है, जैसे किसीके विनाशके लिये बनायी हुई मिठाईमें विष छिपा रहता है।

श्रीभगवान्‌के सम्बन्धसे ही सबका सम्बन्ध है, श्रीभगवान्‌के प्रियत्व से ही सबमें प्रियभाव है। भगवान्‌के बिना तो यह जगत् भयंकर है। चारों ओरसे काटनेको दौड़ता है। ऐसे भगवत्-सम्बन्धरहित विषयोंमें जो ममत्व और सुखबुद्धि हो रही है, यही मोह है। भगवान्‌ने भोगोंको 'दुःखयोनि'—दुःख उपजानेवाले बतलाया है। चाहे वे एक व्यक्तिके लिये हों या समस्त विश्वके लिये। जो मनुष्य अपने सुखके लिये भोगादि न चाहकर समष्टिके लिये चाहता है, वह अवश्य उदार और त्यागी है, परंतु वह भी है यथार्थमें भूलमें ही। भूलमें न होता तो 'दुःखयोनि'—विषयोंमें उसे सुख दीखता ही कैसे? भोगोंसे वैराग्य हुए बिना यथार्थ भगवत्प्रेमका सच्चा विकास नहीं होता। जबतक मनोभूमिमें विषयानुरागका गन्दा कीचड़ भरा हुआ होता है, तबतक उसमें बोया हुआ प्रेमका बीज उगता नहीं। उगना तो दूर रहा, प्रेमका यथार्थ बीज वहाँ पहुँचता ही नहीं। चित्तभूमि जब वैराग्यके द्वारा शुद्ध हो जाती है, तभी उसमें भगवत्प्रेमका बीज बोया जा सकता है और तभी वह अंकुरित, पुष्पित और फलित होता है। परंतु इस वैराग्यका उदय भी अन्तःकरणकी शुद्धिकी अपेक्षा रखता है और वह होती है भजनसे। भजन ही अन्तःकरणके मलको जला डालनेवाली आग है। इसलिये भजन करना चाहिये और विचार तथा भगवत्प्रार्थनाके द्वारा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करते रहना चाहिये। जब भगवत्प्रेमकी झाँकी हो जायगी तब जगत्‌के सभी सुख नीरस, नाचीज और हेय लगने लगेंगे। फिर सहज ही उनसे मन हट जायगा। भक्तवर नागरीदासजी (किशनगढ़के भगवद्भक्त महाराज)-ने भगवत्प्रेमकी जरा-सी झाँकी होनेके बाद यह पद गाया है। इसमें अपने पहले जीवनके लिये कितना पश्चात्ताप किया है, देखिये—

किते दिन बिनु बृन्दाबन खोये।
यों ही बृथा गये ते अबलौं राजस-रंग समोये॥
छाड़ि पुलिन फूलनिकी सैया, सूल-सरनि सिर सोये।
भीजे रसिक अनन्य न दरसे, बिमुखनिके मुख जोये॥
हरि बिहारकी ठौर रहे नहिं, अति अभाग्य बल बोये।
कलह सराय बसाय भट्यारी माया राँड बिगोये॥
इकरस ह्याँ के सुख तजिके ह्वाँ कबौं हँसे कबौं रोये।
कियो न अपनो काज, पराये भार सीसपर ढोये॥
पायो नहिं आनंद लेस मैं सबै देस टकटोये।
नागरिदास बसै कुंजनमें जब सब बिधि सुख भोये॥

यह है राजाके आनन्दका असली स्वरूप। परंतु यह असली रूप देख पड़ता है—भोगोंके मायाजालसे छूटनेपर ही।

मेरा इससे मतलब नहीं है कि घर-बार छोड़कर कहीं चले जाना चाहिये। कोई कहीं भी जाय, जबतक मनमें राग (आसक्ति) है, तबतक फँसावट है ही। सबकी अपनी-अपनी अलग दुनिया है और अलग-अलग छोटे-बड़े क्षेत्र हैं। सम्राट् अपने बड़े भारी राज्यके कार्योंमें राग-द्वेष करता है, दूकानदार छोटी-सी दूकानदारीके सम्बन्धसे उतनी-सी दुनियामें और बच्चा खेलके खिलौनेमें। दुखी सभी हैं, रोना सभीको है—क्योंकि प्रतिकूलताके दर्शन सबको होते हैं, प्रतिकूलतामें ही दुःख और द्वेष है। इसीलिये घर न छोड़कर घरकी मालिकी छोड़नी चाहिये। अपने सब

कुछपर श्रीभगवान्का अधिकार स्थापित करके भगवान्की पूजा करनेके लिये घरमें रहना चाहिये। घर भगवान्का पूजा-मन्दिर बने, हम पुजारी बनें। आसक्ति भगवान्में हो, घरमें नहीं, घरकी चीजें प्यारी हों तो इसीलिये कि वे भगवान्की हैं, भगवान्की पूजाके लिये हैं। पूजाके लिये न हों तो—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

× × ×

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं।

जैसे घर भगवान्का, वैसे ही यह सारा जगत् भगवान्का—बस, इसी नाते जगत्में रहना, जगत्के कार्य करना; प्यारे भगवान् जिस कार्यमें लगा दें, उसीको करना। आसक्ति भगवान्में—कार्य भगवान्का। वे चाहे जगत्के विकासके रूपमें अपनी सेवा करायें या विनाशके रूपमें। याद रखनेकी इतनी ही बात है—भोगोंमें सुख नहीं, सुख एकमात्र भगवान्में है। जगत्के भोगोंसे सुख होगा, यह भ्रान्त धारणा है, सुखी होगा भगवान्से। चाहे भोग न रहें—उनकी पूजाके लिये रहें और वे रखना चाहें तो वह भी उत्तम है—असलमें सेवा भगवान्की करनी है, भोगोंकी नहीं। भोगोंसे भगवान्को रिझाना है, भगवान्से भोगोंको पाना नहीं!

कर्मफल

महाराज धृतराष्ट्रने भगवान् वेदव्यासजी महाराजसे पूछा कि महाराज! मेरे सौ पुत्र मेरे सामने मारे गये, बड़ा आश्चर्य है! मुझे अपने पिछले सौ जन्मोंका स्मरण है कि मैंने एक भी पाप उनमें नहीं किया, फिर मेरे सौ बेटे क्यों मरे मेरे सामने? व्यासजी बोले—अरे मूर्ख! बस, तू तो सृष्टि जबसे बनी है, तबसे जन्म ले रहा है, न जाने कब क्या किया तूने? धृतराष्ट्र बोले—तो महाराज! बताओ। उनके अन्दरका अँधेरा दूर हो चुका था। व्यासजीने बताया कि सौ जन्मोंसे पूर्व तू भारतवर्षका एक बड़ा ही प्रतापी और धार्मिक राजा था। तब रामेश्वरम्को जाते हुए मानसरोवरके हंसोंने तेरे बागमें अपने परिवारके साथ बसेरा किया। एक हंसकी हंसिनी गर्भवती थी। वह तुम्हारे पास आया और तुमसे निवेदन किया कि मैं अपनी गर्भवती पत्नीको बागमें छोड़े जा रहा हूँ और वह हंस रामेश्वरम् चला गया। इधर उस हंसिनीने सौ बच्चोंको जन्म दिया। तुमने उन्हें चुगनेके लिये मोती दिये। एक दिन तुम्हारे रसोइयेने एक हंसके बच्चेको पकाकर तुझे खिला दिया। तुम्हें वह बड़ा स्वादिष्ट लगा और तुमने बिना विचार किये उसे आज्ञा दी कि इसी प्रकारका मांस नित्य पकाया जाय। अब देखो, जीभ इन्द्रियने बल पकड़ा, तुमने यह भी नहीं पूछा कि यह क्या है? कहाँसे प्राप्त होता है? तुम मोहमें अन्धे हो गये और रोज उसी मांसकी इच्छा करने लगे और इस प्रकार उस हंसिनीके मोती चुगनेवाले सौ-के-सौ बच्चोंको तुम खा गये। अब वह हंसिनी अकेली रह गयी। हंस रामेश्वरम्-यात्रासे वापस आया तो हंसिनीसे पूछा कि यह क्या और कैसे हुआ? उसने कहा कि राजासे ही पूछो। हंसने राजासे कहा कि तुमने मेरे सौ बच्चोंका मांस खा लिया? राजाने रसोइयेको बुलाकर पूछा। उसने कहा कि महाराज! यह तो आपकी ही आज्ञा थी कि इसीको नित्य बनाया करो। राजा धर्मात्मा था, परंतु इस भयंकर पापसे बड़ा घबराया। तब हंस-हंसिनीने कहा कि तूने अन्धे होकर यह काम किया, तू अन्धा हो जायगा और तेरे सामने ही तेरे सौ पुत्र मरेंगे। ऐसा कहकर उन्होंने प्राण त्याग दिये। व्यासजी बोले—हे राजन्! सौ जन्मतक तू राजा और वह रानी एक साथ नहीं हुए, अब तुम दोनों इस जन्ममें राजा और महारानी बने हो तो यह घटना घटित हुई और उस जन्मके उस कर्मका फल भोगना पड़ा।

[जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज]

साधनामें बाधक रोग और ऋण

(साधुवेषमें एक पथिक)

प्रत्येक मनुष्य जन्म लेकर वस्तु-व्यक्तिसे सम्बन्धित होकर कुछ-न-कुछ चाहता ही रहता है; इसीलिये विद्वज्जन उसे 'साधक' कहते हैं और मनुष्य साधनके द्वारा जो कुछ प्राप्त करना चाहता है, उसीको 'साध्य' कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार हम सभी मानव साधक हैं। जहाँतक हमें अभावकी प्रतीति होती है, वहाँतक हम उसकी पूर्णता चाहते हैं। हम अनेक प्रकारके ग्रन्थाध्ययन तथा श्रवणद्वारा अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करते चले आ रहे हैं, पर वह ज्ञान सुलभ नहीं है, जिससे पूर्णता प्राप्त होती है और अभावका ही अभाव हो जाता है। हम संग तथा सम्बन्धसे दुखी और अशान्त होकर शान्तिके लिये सम्बन्धियों तथा गृह आदि वस्तु अथवा सम्पत्तिका त्याग करते हैं, पर इससे वह त्याग पूर्ण नहीं होता, जिससे शाश्वत शान्ति सुलभ होती है। हम कभी-कभी दोषोंकी निवृत्तिके लिये व्रत और तपके द्वारा तन-मनको तपाते रहते हैं, पर वह तप नहीं हो पाता, जिससे दोषनिवृत्तिकी शक्ति सुलभ होती है। हम आसक्तियोंको मिटानेके लिये अधर्मका त्याग करते हुए धर्माचरणमें प्रवृत्त रहते हैं, पर वह धर्म नहीं सध पाता, जिससे पूर्ण विरक्ति होती है। हम संसारके प्रभावसे बचनेके लिये परमेश्वरके गुणोंका कीर्तन, नामोंका जप तथा चरित्रका पाठ और उनके विग्रहकी पूजा करते हुए देखनेवालोंकी दृष्टिमें भक्त बन रहे हैं, पर वह दिव्य भाव एवं प्रेम प्रायः सुलभ नहीं होता, जिससे परमेश्वरकी निरन्तर अभिन्नताका बोध करानेवाली भक्ति सुलभ होती है। हम सत्संगकी महिमाको श्रवणकर संतों तथा आचार्योंद्वारा सत्कथा और प्रवचन वर्षोंसे सुनते आ रहे हैं, पर वह सत्संग सुलभ नहीं होता, जिससे असत्यके प्रभावसे मुक्ति मिलती है।

हम कुछ-न-कुछ बनते-बनाते रहते हैं, पर अभीतक वह नहीं हो पाया, जिससे परमात्माके यथार्थ प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रायः हम अनेक साधक साधनाके अभिमानी बने हुए हैं, साधन और साध्यका विवेक नहीं प्राप्त करते। साधनाके नामपर हम जो कुछ भी पूजा, पाठ, जप, ध्यान और आराधना आदि करते हैं, उससे संतोष तो होता है, पर नित्यप्राप्त सत्यकी अनुभूति प्रायः नहीं होती, स्वाध्यायके द्वारा पता चला कि विविध साधनोंद्वारा शान्ति, मुक्ति, भक्ति अथवा अभीष्ट सिद्धि इसलिये सुलभ नहीं होती है कि हम तन अथवा मनसे रोगी और ऋणी हैं। कोई भी मनुष्य जब स्थूल शरीरसे रोगी हो जाता है, तब किसी भी कार्यकी सिद्धिके लिये श्रम नहीं कर सकता; इसी तरह जब धन लेकर किसीका ऋणी हो जाता है, तब अपने संकल्पकी पूर्तिमें स्वतन्त्र नहीं रहता। कोई साधक जबतक मनसे रोगी रहता है, तबतक शुभ संकल्पकी पूर्तिके लिये दृढ़ नहीं रहता और जबतक मनद्वारा भोगी बने रहकर ऋणी रहता है, तबतक परहित अथवा सेवाके लिये स्वतन्त्र नहीं रहता। बाह्य जीवनमें दीखनेवाले रोग और ऋणकी अपेक्षा मानस-रोग तथा मानस ऋण बहुत ही दुःसाध्य हैं।

बाह्य ऋण तथा रोग सांसारिक भोग-सुखमें बाधक रहा करते हैं, आन्तरिक रोग तथा ऋण पारमार्थिक साधनाकी सिद्धिमें बाधक बनते हैं। बाह्य रोग तथा ऋणका ज्ञान सर्वसाधारणको होता रहता है, पर मानसिक रोग और ऋणका परिचय बिरले ही विवेकी पुरुष प्राप्त कर पाते हैं। शारीरिक रोगोंका उपचार बाह्य वैद्यों—डॉक्टरोंद्वारा होता है, मानस रोगोंका उपचार सद्‌गुरु वैद्यद्वारा होता है। बाह्य ऋणकी निवृत्ति बाह्य भौतिक सम्पत्तिद्वारा होती है, पर मानसिक ऋणकी निवृत्ति—पूर्ति आन्तरिक दैवी सम्पत्तिद्वारा कर्तव्यपरायण बननेसे होती है।

हमलोगोंका स्थूल शरीर अधिकतर आरम्भमें रोगरहित तथा ऋणरहित ही देखा जाता है, पर सूक्ष्म शरीर पहले जन्मोंसे ही रोगी और ऋणी चला आ रहा है। स्थूल शरीरके द्वारा बढ़े हुए रोग तथा ऋणको दूर करनेके लिये बाह्य वैद्य और धनी महाजनका आश्रय लेना होता है; मानस रोग तथा ऋणकी निवृत्तिके लिये संत-सद्‌गुरु और परम प्रभुकी अहैतुकी कृपाका आश्रय लेना होता है।

देहके किसी अंगमें पीड़ा होने तथा अशक्ततासे बाह्य रोगका परिचय मिलता है, इसी तरह मानसिक अशान्ति और दु:ख-शोक-संतापसे मनके रोगाक्रान्त होनेका पता चलता है। जिस तरह स्थूल देहमें अनेक रोग प्रचलित हैं, उसी तरह मानस देहमें भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ममता, ईर्ष्या, राग, द्वेष, भय, विषाद, तृष्णा और वासना आदि अनेक रोग मनोवैज्ञानिक जन जानते हैं।

हमें बताया गया है कि समस्त रोग और ऋण अज्ञानकी भूमिकामें ही बढ़ते हैं। हमारे मानस क्षेत्रकी एक दिशा मोहरूपी महारोगसे घिरी है, दूसरी दिशा लोभ तथा तीसरी दिशा कामसे आक्रान्त है; तृष्णारूपी बुभुक्षामें कुछ भी भरते जायँ, उसका पेट कभी भरता ही नहीं है, भूख मिटती ही नहीं है। अहंगत महत्त्वाकांक्षा तो असाध्य राजरोग बनकर जीवनको ही विषाक्त कर रही है। यह महत्त्वाकांक्षा गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा साधु-संन्यासी, उदासी और वैरागी—सबको अशान्त, क्लान्त और भ्रान्त बना रही है। महत्त्वाकांक्षासे केवल वही बचा होगा, जो कुछ बनने या होनेकी कामना नहीं रखता। गृहस्थ जीवनमें हम सबसे बड़े धनवान्, विद्वान्, रूपवान् तथा वैभवसम्पन्न उच्च पदाधिकारी होना चाहते हैं और बढ़ते-बढ़ते जब थक जाते हैं, विश्राम नहीं पाते हैं, तब सब कुछका त्यागकर संन्यासी अथवा सर्वोपरि तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी, ध्यानी, धर्मोपदेशक, सुधारक, उद्धारक और गुरु बननेके लिये परस्पर होड़ लगानेमें अपने आपको प्रमादी और आलसी नहीं देखना चाहते। यह महत्त्वाकांक्षारूपी चढ़े ज्वरका कुलक्षण है। महत्त्वाकांक्षाका नशा इतना मादक है कि इसके कारण हम अनेक साधक स्वयंको ही खोये हुए हैं और अपने कर्तव्यको भूलकर अधिकार-भोगमें आसक्त रहकर रोगी और ऋणी बन रहे हैं।

गुरु-विवेकद्वारा कोई भी साधक देख सकता है कि बाहरसे त्याग करनेपर भी यदि भीतर किसी वस्तु अथवा व्यक्तिमें राग बना है, बाहरसे धन छोड़ते हुए भी भीतर लोभ बना है, ऊपरसे विनम्रतापूर्वक वाक्योंका प्रयोग करनेपर भी भीतर अभिमान बना है तथा बाहरसे शीत-घाम सहते हुए भी अन्तरमें प्रतिकूल वाक्य सहनेकी क्षमता नहीं है, तब निस्संदेह अन्त:करणमें रोग भरे पड़े हैं। यदि किसीकी स्मृति हमें व्यथित और दुखी बना देती है, तो हम उसके ऋणी हैं।

'स्व' का 'पर' से आच्छादित हो जाना ही रोगग्रस्त होना है और 'पर'के संगमें सुख मानना ऋणी होना है। जो 'स्व' में स्थित नहीं है, वह अस्वस्थ और परतन्त्र है। हम साधकोंको स्वतन्त्र होनेके लिये परापेक्षित सुखलोलुपताका त्याग करना ही होगा। इसके साथ ही मिली हुई वस्तु तथा व्यक्तिको अपना न मानकर सब कुछ प्रभुका ही जानकर, प्रभुके नाते सभी सम्बन्धित प्राणियोंको यथोचित प्यार, अधिकार और मान देकर सेवाभावसे सबको संतुष्ट रखना होगा, रोग और ऋणसे मुक्त होनेका यही व्यावहारिक साधन है। जितनी अधिक दृढ़तासे हम मिली हुई देह, शक्ति, सम्पत्ति तथा मिले हुए परिवारको अपना मान रहे हैं, उतने ही मोह, लोभ, अभिमान, अहंकार तथा काम-क्रोधादि विकारोंके द्वारा रोगी बन गये हैं। इसी तरह जितना अधिक हमने दूसरोंसे प्यार लिया है, सम्मान लिया है, अधिकार प्राप्त किया है तथा किसीसे शक्ति-सम्पत्ति लेकर भोगी बनें हैं, उतने ही ऋणी हो गये हैं। अब सेवा, त्याग और प्रेमके सहारे स्वस्थ और ऋणमुक्त हो सकते हैं।

रोगी होनेके कारण जो कुछ हमें करना चाहिये, उसे हम समयपर नहीं कर पाते तथा ऋणी रहनेके कारण जिस तरह हमें त्यागी, विरागी, तपस्वी, ध्याननिष्ठ तथा योगसिद्ध होना चाहिये, उस तरह नहीं हो पाते। हममेंसे कोई भी साधक जबतक देहासक्त, धनासक्त, परिवार, भोग-सुख, कर्म और विचारमें आसक्त रहेगा, तबतक प्रेम, त्याग तथा सेवाकी पूर्णताके लिये जो कुछ करना चाहिये, उसे पूर्ण नहीं कर सकेगा। किसी भी तरहकी आसक्ति दृढ़ मानसिक रोग है; किसी भी प्रकारका अधिकार-भोग साधकके लिये ऋणकी भूमिका है, जिसकी सीमामें हम अनेक साधक कर्तव्यविमुख बने रहते

हैं। ऋणी रहनेतक जगत्से विरक्ति और रोगी रहनेतक प्रभुमें अनुरक्ति नहीं होती। ऋणसे मुक्त होनेके लिये स्वधर्ममें स्थित होना है और रोगरहित अथवा स्वस्थ होनेके लिये हमें परधर्मसे असंग रहना है। 'स्व'में ही होना स्वस्थ होना है। सत् परमात्माका नित्यसंग ही स्वधर्म है, असत् अनित्यका संग ही परधर्म है, विधर्म है, विधर्मी परावलम्बी है, वह स्वस्थ नहीं हो सकता।

जो कुछ 'स्व'से भिन्न है, वह देहादि वस्तु परकी सीमामें है। जबतक हम साधक देहादि वस्तुओंके साथ मिलकर इन्हें अपनेमें रख लेते हैं, तबतक हम परतन्त्र, पराधीन तथा परापेक्षी हैं। जबतक हम ऐसे हैं, तबतक स्वस्थ, शान्त, मुक्त तथा भक्त नहीं हो सकते। पराश्रयके कारण ही हम स्वधर्मसे विमुख हैं, परधर्मावलम्बी होकर हम परतन्त्र बन रहे हैं। 'स्व' से भिन्न ही अनित्य है, पर है, 'स्व'से अभिन्न ही सत्य है, सनातन है। 'स्व'के सत्यकी अनुभूतिके लिये हमें 'पर' से असंग रहना होगा। जो कुछ 'पर' है, उसे देखते ही उससे दूरी तथा असंगता प्राप्त होती है। असंगतामें ही परधर्मसे मुक्ति मिल जाती है; इस तरहकी मुक्तिमें ही हम साधक स्वस्थ हो सकते हैं; जो स्वस्थ हैं, वे पूर्णमें हैं, वे ही अपूर्णसे कुछ नहीं चाहते। निष्काम होनेमें ही पूर्ण तृप्ति है।

जो कुछ हम देखते हैं, वह हम स्वयं नहीं हैं, वह तो हमारा दृश्य है; जो दृश्य है, वह सनातन शाश्वत सत्य नहीं हो सकता। जहाँतक दृश्य है, वहाँतक विचार-तरंगें उठती रहती हैं। ये तरंगें ही हमें 'स्व'में प्रतिष्ठित परमात्माकी एकताका अनुभव नहीं करने देतीं। हम विचार-तरंगोंमें होकर उन्हींमें तन्मय बन जाते हैं; 'स्व' को भूल जाते हैं; यही अज्ञानजनित मूल रोग है; 'स्व' का अज्ञान ही रोगका मूल है। 'स्व'के ज्ञानमें ही रोगकी निवृत्ति है। इसी तरह अन्यके द्वारा इच्छित सुखका भोगी बनना ही ऋणी होना है और स्वयं निष्कामभावसे प्रेममें होकर जो कुछ लेते आ रहे थे, उसी सुखद-सुन्दर पवित्रको देते रहना ऋणसे मुक्त होना है।

ज्ञानमें रोगसे मुक्ति मिल जाती है और प्रेममें ऋणकी निवृत्ति हो जाती है। 'स्व' की अनुभूति ही ज्ञान है, 'स्व' में सत्य परमात्माकी अनुभूति ही प्रेम है। ज्ञान और प्रेममें अपने आपको देखना ही स्वस्थ और स्वतन्त्र होना है।

दिव्य दाम्पत्य

मनु और शतरूपाने जब अपनी पुत्री देवहूतिका हाथ कर्दम ऋषिके हाथमें देनेकी इच्छा प्रकट की तो कर्दमने कहा—'मैं भोग-विलासके लिये नहीं, परंतु पत्नीके साथ नित्य सत्संग करके आत्मसुख प्राप्त करनेके लिये ही विवाह करना चाहता हूँ। मुझे भोगपत्नी नहीं, धर्मपत्नी चाहिये। हमारा सम्बन्ध संसारका उपभोग करनेके लिये नहीं, बल्कि नाव और नाविककी तरह संसार-सागर पार करनेके लिये होगा। अतः एक पुत्रकी प्राप्तिके बाद मैं संन्यास ले लूँगा। क्या आपको स्वीकार्य है?'

मनु-शतरूपा बड़ी उलझनमें पड़े, किंतु देवहूतिने तपस्वीकी सेवा स्वीकार कर ली और वल्कल वस्त्र पहन लिये।

विवाहके बाद दम्पतीने बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और पत्नीने पति-सेवाके व्रतका निर्वाह किया।

सेवासे प्रसन्न होकर कर्दमने पत्नीकी इच्छाको पूर्ण करना चाहा तो पत्नीने कहा, 'और दूसरी वस्तु क्या माँगूँ? हाथ पकड़कर लाये हो तो हाथ पकड़कर प्रभुके दरबारमें भी पहुँचा दीजिये।'

ऐसे दिव्य दाम्पत्यके द्वारपर ही भगवान् कपिल पुत्ररूपमें पधारे। विवाहके बारेमें कैसी सुन्दर जीवन-दृष्टि है!

साधकोंके प्रति—

भगवान्‌के साथ अपनापन रखें

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भगवान्‌के साथ अपनेपनको लेकर उनपर दृढ़ विश्वासका होना—यह भक्तहृदयका प्रधान चिह्न है। भक्तोंका हृदय सम्पूर्ण जगत्‌में अव्यक्तरूपसे परिपूर्ण रहनेवाले परमात्माको आकर्षित करके साक्षात् मूर्तिमान् रूपमें प्रकट कर लेता है, जैसे भक्त ध्रुव और प्रह्लादके लिये भगवान् साक्षात् प्रकट हो गये थे।

उन सर्वेश्वर प्रभुमें भक्तका हृदय धारावाहिकरूपसे तन्मय हो जाता है। इस प्रकार हृदयकी तल्लीनता तो मारीच, कंस, शिशुपाल आदिकी भाँति भय और द्वेष आदिके कारण भी हो सकती है। किंतु वह तल्लीनता भक्तिमें परिणत नहीं हो सकती; क्योंकि उसे भक्तिरसके आनन्दका अनुभव नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति सर्वलोकपावनी गंगाजीमें वैशाखमासमें स्नान करता है तो गंगा-स्नानसे उसके पापोंका नाश होकर अन्त:करण शुद्ध हो जाता है, उसे स्नान करनेमें भी प्रत्यक्ष ही अपूर्व रसानुभूति—आनन्दानुभव होता है; किंतु जो माघमासमें गंगा-स्नान करता है, उसके पापोंका तो अवश्य नाश हो जाता है, पर शीतके कारण उसे स्नान करनेमें आनन्द नहीं आता, प्रत्युत उसका आनन्दांश तिरस्कृत होकर उसे कष्टका अनुभव होता है। इसी तरह भय-द्वेष आदिके कारण भगवदाकार अन्त:करणवालोंका आनन्दांश तिरोहित होकर उनका हृदय दु:खित और चिन्तित रहता है। इसलिये उनके अन्त:करणकी तदाकारता भक्तिमें शामिल नहीं है। अत: भगवान्‌के प्रति आत्मीयताको लेकर दृढ़ विश्वास और प्रेमपूर्वक जो अन्त:करणका भगवदाकार हो जाना है, वही भक्ति है। किंतु नास्तिकोंकी अपेक्षा तो भय-द्वेष आदिको लेकर भगवान्‌का चिन्तन करनेवाले भी अच्छे हैं। फिर उनका तो कहना ही क्या है, जो भगवान्‌का श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर निष्काम अनन्य भजन करते हैं। जिस प्रकार गंगाकी चाल स्वाभाविक ही निरन्तर समुद्रकी ओर है, इसमें न तो उसका अपना कोई प्रयोजन है और न वह कहीं ठहरती ही है, इसी प्रकार अनन्य भक्त न तो कुछ चाहते ही हैं और न कहीं भगवत्स्मरणसे विराम ही लेते हैं; वे तो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे भजन ही करते रहते हैं। श्रीनारदजीने भी कहा है—

‘भक्ता एकान्तिनो मुख्याः।’ (सूत्र ६७)

एकमात्र भगवान्‌को इष्ट मानकर उन्हींकी अनन्य भक्ति करना ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। इसलिये सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझकर भी ऐसी भक्तिका साधन किया जा सकता है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं, इसीलिये यह सारा ब्रह्माण्ड भगवान्‌का ही स्वरूप है। एवं देवता आदिमें भगवान्‌की बुद्धि करके भी भक्ति की जा सकती है और इसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही है। इस प्रकारकी भगवान्‌की भक्ति करनेवालेमें दो बातें प्रधान होनी चाहिये—साधकमें हो निष्कामभाव और उपास्यमें हो भगवद्‌बुद्धि। इससे भगवान्‌की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है। किंतु समस्त जगत्‌में भगवद्‌बुद्धि न होकर भी साधकमें निष्कामभाव हो, तो भी उसकी सेवाका फल भगवत्प्राप्ति ही है। भगवान्‌की भक्ति तो सकामभावसे करनेपर भी ध्रुवकी भाँति भगवत्कृपासे अभीष्ट फलकी सिद्धिपूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यदि कोई देवताओंको देवता मानकर भी निष्कामभावसे केवल भगवदाज्ञापालनपूर्वक भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ही उनकी भक्ति करता है तो उसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही होता है। फिर जो स्वयं भगवान्‌की ही निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर अनन्य भक्ति करते हैं, उन अनन्य भक्तोंको भगवान् मिलें, इसमें तो बात ही क्या है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

‘हे अर्जुन! जो पुरुष अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।’

भक्तिमें प्रधान बात है—भगवान्‌का होकर नित्य-निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे उन्हींका स्मरण-चिन्तन करते रहना। स्मरणका बड़ा भारी अद्भुत प्रभाव है। भक्तोंकी कथाओंमें प्राय: यही बात विशेष मिलती है कि जहाँ भी जिस भक्तने भगवान्‌को अपना समझकर दृढ़ विश्वासपूर्वक प्रेमभावसे विह्वल होकर भगवान्‌का स्मरण किया, वहीं भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट हो गये।

पद्मपुराणके रामाश्वमेधमें श्रीहनुमान्‌जीकी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाका उल्लेख मिलता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अश्वमेध यज्ञके लिये छोड़ा हुआ घोड़ा अनेक देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ जब रामभक्त राजा सुरथके कुण्डलनगरमें पहुँचा, तब राजाने भगवान्‌के दर्शनकी लालसासे उस घोड़ेको पकड़वा लिया। जब अश्वरक्षक शत्रुघ्न आदिको घोड़ेके पकड़े जानेका पता लगा, तब उन्होंने उनसे युद्ध करके अश्वको छुड़ा लानेका विचार किया। इतनेमें ही धर्मात्मा राजा सुरथ और उनके राजकुमार चम्पक भी रणभूमिमें पहुँच गये तथा दोनों ओरके सैनिक आपसमें लड़ने लगे। राजकुमार चम्पकने भरतकुमार पुष्कलको रामास्त्रका प्रयोग करके बाँध लिया। यह देखकर श्रीहनुमान्‌जीने चम्पकके सामने जाकर युद्ध किया तथा चम्पकको युद्धभूमिमें गिराकर मूर्च्छित कर दिया और पुष्कलको बन्धनसे छुड़ा लिया।

इसपर राजा सुरथने श्रीहनुमान्‌जीकी रामभक्तिकी बड़ी प्रशंसा की और वे उनसे युद्ध करने लगे। जब राजाके छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रको श्रीहनुमान्‌जी निगल गये, तब राजाने श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके रामास्त्रका प्रयोग किया। उस समय श्रीहनुमान्‌जी बोले—'राजन्! क्या करूँ, तुमने मेरे स्वामीके अस्त्रसे ही मुझे बाँधा है; अत: मैं इसका आदर करता हूँ। अब तुम मुझे इच्छानुसार अपने नगरमें ले जाओ। मेरे प्रभु दयासागर हैं, वे स्वयं ही आकर मुझे छुड़ायेंगे।'

श्रीहनुमान्‌जीके बाँधे जानेपर पुष्कलने राजासे युद्ध किया, किंतु वे अन्तमें मूर्च्छित होकर गिर पड़े। तब शत्रुघ्नने राजासे बहुत देरतक युद्ध किया, पर वे भी राजाके बाणके आघातसे मूर्च्छित होकर रथपर गिर पड़े। यह देखकर सुग्रीव उनसे लड़ने गये, पर राजाने उनको भी रामास्त्रका प्रयोग करके बाँध लिया।

तदनन्तर राजा सुरथ उन सबको रथपर डालकर अपने नगरमें ले गये। वहाँ जाकर वे राजसभामें बैठे और बँधे हुए हनुमान्‌जीसे बोले—'पवनकुमार! अब तुम भक्तोंके रक्षक परम दयालु श्रीरघुनाथजीका स्मरण करो, जिससे सन्तुष्ट होकर वे तुम्हें तत्काल बन्धनमुक्त कर दें।' श्रीहनुमान्‌जीने अपने-सहित सब वीरोंको बँधा देखकर कमलनयन परम कृपालु श्रीरामचन्द्रजीका सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे स्मरण किया। वे मन-ही-मन कहने लगे—

हा नाथ हा नरवरोत्तम हा दयालो
सीतापते रुचिरकुण्डलशोभिवक्त्र।
भक्तार्तिदाहक मनोहररूपधारिन्
मां बन्धनात् सपदि मोचय मा विलम्बम्॥

(पद्म० पाताल० ५३। १४)

'हा नाथ! हा पुरुषोत्तम! हा सुन्दर कुण्डल और शोभासम्पन्न वदनवाले, भक्तोंके दु:ख दूर करनेवाले तथा मनोहर विग्रह धारण करनेवाले दयालु सीतापते! मुझे इस बन्धनसे शीघ्र मुक्त कीजिये, देर न लगाइये।'

श्रीहनुमान्‌जीके इस प्रकार प्रार्थना करते ही तुरंत भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमानपर आरूढ़ होकर वहाँ आ पहुँचे। भगवान्‌को पधारे देख राजा सुरथ प्रेममग्न हो गये और उन्होंने भगवान्‌को सैकड़ों बार प्रणाम किया। श्रीरामने भी चतुर्भुजरूप धारण करके अपने भक्त सुरथको छातीसे लगा लिया और आनन्दाश्रुओंसे उसका मस्तक अभिषिक्त करते हुए कहा—'राजन्! तुम धन्य हो। आज तुमने बड़ा पराक्रम दिखाया है।' फिर भगवान्‌ने श्रीहनुमान्, सुग्रीव, शत्रुघ्न, पुष्कल आदि सभी योद्धाओंपर दया-दृष्टि डालकर बन्धन और मूर्च्छासे मुक्त किया। उन्होंने उठकर भगवान्‌को प्रणाम किया। राजा सुरथने प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य भगवान्‌को समर्पित कर दिया। भगवान् तीन दिन कुण्डलनगरमें रहे, फिर राजा सुरथको ही राज्य सौंपकर उनकी सम्मति ले वहाँसे चले गये। तब राजा सुरथ अपने राजकुमार

चम्पकको राज्यभार देकर शत्रुघ्नके साथ अश्वकी रक्षाके लिये चल पड़े।

यहाँ हमें भक्त हनुमान् और राजा सुरथके भक्तिभावपूर्वक किये हुए स्मरणके प्रभावपर ध्यान देना चाहिये। उनकी अनन्य भक्तिसे आकृष्ट होकर भगवान् तुरंत वहाँ पहुँच गये। भगवान्के प्रेमपूर्वक अनन्य स्मरणका बड़ा भारी माहात्म्य है। भक्त सुधन्वाकी कथा देखिये, भगवान्के स्मरणके प्रभावसे अत्यन्त प्रतप्त तेल भी उनके लिये अतिशय शीतल हो गया तथा अर्जुनके साथ युद्ध करते समय भी जगह-जगह भगवत्स्मरणका प्रभाव दिखायी पड़ता है।

जब अर्जुनने भगवान्का स्मरण करके तीन बाण निकालकर प्रतिज्ञा की कि इन तीन ही बाणोंसे मैं सुधन्वाका मस्तक काट डालूँगा, अगर ऐसा न कर सकूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिर पड़ें। तब ठीक इसके विरुद्ध सुधन्वाने भगवान्का स्मरण करके प्रतिज्ञा की कि इन तीनों ही बाणोंको मैं अपने बाणोंसे काट डालूँगा, यदि ऐसा न कर सकूँ तो मुझे घोर गति प्राप्त हो। भगवान्ने इन दोनों ही भक्तोंकी भगवत्स्मरणपूर्वक की गयी प्रतिज्ञाको सच्चा किया। भक्त अर्जुनकी रक्षाके लिये भगवान्ने पहले बाणको अपने गोवर्धनधारणका पुण्य अर्पित करके बाण छोड़नेका अर्जुनको आदेश किया। अर्जुनने तदनुसार बाण छोड़ा; किंतु सुधन्वाने भगवान्को याद करके अपने बाणसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तब भगवान्ने अर्जुनको दूसरा बाण सन्धान करनेकी आज्ञा दी और साथ ही उसे अपने अन्य अनेक पुण्य अर्पण किये। अर्जुनके दूसरा बाण छोड़ते ही सुधन्वाने उसे भी भगवान्का स्मरण करके काट डाला। अब तीसरा बाण रहा, भगवान्ने उसे अपने रामावतारका पुण्य अर्पण कर दिया तथा उसके पिछले भागमें ब्रह्माजी और बीचमें कालको जोड़कर अग्रभागमें स्वयं विराजे एवं अर्जुनको बाण चलानेकी आज्ञा दी। जब अर्जुनने तीसरा बाण छोड़ा, तब सुधन्वाने भगवान्से कहा—'भगवन्! आप स्वयं इस बाणमें विराजमान हैं, यह मैं जान गया हूँ। अब आप मुझे अपने चरणोंमें आश्रय देकर कृतार्थ करें।' यों कहकर भगवान्का स्मरण करते हुए उन्होंने अपने बाणसे उसके भी दो टुकड़े कर दिये। उन दो टुकड़ोंमेंसे पिछला भाग पृथ्वीपर गिर पड़ा तथा अग्रभागवाला टुकड़ा, जिसपर भगवान् श्रीकृष्ण विराजे थे, उछला और उसने सुधन्वाका मस्तक काट डाला। सुधन्वाका सिर कटकर भगवान्के चरणोंमें आ गिरा। अपने सम्मुख भगवान्का दर्शन करते हुए उसके मुखसे एक ज्योति निकलकर भगवान्में प्रवेश कर गयी, इस रहस्यको किसीने नहीं जाना।

अतएव भगवत्स्मृतिके प्रभावको लक्ष्यमें रखकर हमें भी प्रत्येक क्रिया भगवान्का स्मरण रखते हुए ही करनी चाहिये। सांसारिक कार्य करते हुए भी नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण होते रहना चाहिये। परंतु एकान्तमें भगवान्का भजन-स्मरण, सेवा-पूजा आदि नित्यकर्मके लिये बैठें, तब तो संसारका स्मरण किंचित् भी न हो—ऐसा विशेष ख्याल रखनेकी आवश्यकता है। भगवत्स्मरण नित्य-निरन्तर होनेके लिये भगवान्में अनन्य प्रेम, सत्पुरुषोंका संग, सच्छास्त्रोंका मननपूर्वक स्वाध्याय, भगवान्के नामका जप, भगवान्की स्तुति-प्रार्थना, भगवत्कृपासे निरन्तर स्मृति बनी रहनेका दृढ़ विश्वास और हर समय सावधानीपूर्वक उस स्मृतिको बनाये रखनेकी चेष्टा—ये सात विशेष सहायक हैं। इन सातोंका अनुष्ठान करते हुए जो एकमात्र भगवान्का ही अनन्य स्मरण करता है, उसकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंका नाश हो जाता है और उसे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। भगवान्के स्मरणका प्रभाव और माहात्म्य क्या बतलाया जाय—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य आवागमनरूप बन्धनसे छूट जाता है, सबको उत्पन्न रखनेवाले उस परम प्रभु श्रीविष्णुको बार-बार नमस्कार है।'

भक्तिके चार आयाम

(डॉ० शैलजाजी अरोड़ा)

भगवान् करुणाके सागर हैं। उन्हें हर स्तरके व्यक्ति पसन्द हैं, जो उनतक किसी-न-किसी माध्यमसे पहुँचनेका प्रयास करते हैं। भगवान्ने भक्तिमें रत उन सभी प्राणियोंको '**सुकृतिनः**' अर्थात् पुण्यवान् जीवोंकी संज्ञा दी है। इसे भगवान्की उदारता ही कहा जायगा। सामान्य रूपसे भक्तिकी दो श्रेणियाँ होती हैं—सकाम और निष्काम। सकाम भक्त उन्हें कहा जाता है, जो किसी कामनाको लेकर भगवान्की भक्ति करते हैं और निष्काम भक्त वे कहलाते हैं, जो बिना किसी कामनाके प्रभुसे प्रेम करते हैं। गीताके सातवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने चार प्रकारके भक्तोंकी चर्चा की है, जिनमें प्रथम दोनों प्रकार के भक्त सकाम भक्तोंकी कोटिमें आते हैं और शेष दोनों निष्काम भक्तकी श्रेणीमें रखे जा सकते हैं। भगवान् गीता (७।१६)-में कहते हैं कि हे अर्जुन! चार प्रकारके उत्तम कर्म करनेवाले भक्तजन मेरी उपासना करते हैं, मेरा निरन्तर स्मरण करते हैं। वे भक्तजन हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तजन।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

भक्तोंकी प्रथम श्रेणी जो भगवान्‌द्वारा बतायी गयी है, वह है आर्तभक्तकी। यह ऐसा प्रेमी है, जो भगवान्को दुःखमें याद करता है। ऐसा प्राणी दुःखमें विचलित हो आकुल-व्याकुल हो जाता है। जब सब ओरसे हाथ-पैर मारकर हार जाता है तो अन्तिम विकल्पके रूपमें भगवान्की शरणमें पहुँच जाता है और दुःख दूर करनेके लिये प्रभुसे गुहार करता है। श्रीमद्भागवतपुराणके एक कथानकके अनुसार गजराजको जब ग्राहने जकड़ा तो उसने आर्त पुकार लगायी, जिसे सुनकर भगवान् तुरन्त दौड़े चले आये और उसकी रक्षा की। इस प्रकार एक अन्य प्रसंगमें जब द्रौपदीका चीरहरण हो रहा था तो सबसे पहले उसने अपने महाबली पतियोंसे आस लगायी। जब बात नहीं बनी तो नैतिकताकी दुहाई देकर भीष्मपितामह, गुरु द्रोण एवं राजा धृतराष्ट्रसे सहायताकी माँग की। जब कोई विकल्प नहीं बचा तो उसने श्रीकृष्णको पुकारा। भगवान्ने तुरन्त वस्त्रावतारके रूपमें प्रकट होकर द्रौपदीके लाजकी रक्षा की। साड़ी खींचते-खींचते दस हजार हाथियोंके बराबर बल रखनेवाला दुःशासन थककर गिर पड़ा, पर द्रौपदीका दस गजका चीर खत्म नहीं हुआ—'***दस हजार गज बल घटो, घटो न दस गज चीर।***' यदि जीव व्याकुल हृदयसे पुकारे तो भगवान् मददके लिये दौड़े चले आते हैं। परमपिता परमेश्वरकी यह दयालुता उसकी प्रकृतिमें समाहित है, यह केवल एक सच्चा भक्त ही जानता है।

भक्तोंकी दूसरी श्रेणीमें आते हैं अर्थार्थी भक्तजन, जो अर्थ, भोग और वैभवकी प्राप्तिके लिये भगवान्की भक्ति करते हैं, वे अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं। आर्थिक लाभकी कामनासे भजन करनेवालेकी भी भगवान् सुनते हैं और उसकी इच्छाकी पूर्ति भी करते हैं। भगवान् बड़े दयालु हैं। भगवान्ने ऐसे सकाम व्यक्तिको भी भक्त इसलिये मान लिया; क्योंकि वे चाहते हैं कि जीव किसी भी कारण मेरे लिये अपने हृदयका द्वार खोले, मुझे भजे और अपना समझे। वे तो बस इतनी-सी बातपर भी सन्तुष्ट हो जाते हैं कि मेरी करुणाके प्रवेशके लिये जीवने कम-से-कम अपने अन्तःकरणका द्वार खोला तो है, सात्त्विकताका भाव उसके मनमें जगा तो है। शायद इसी बहाने मेरे प्रति जीवका अनुराग उदय हो जाय। भगवान् जीवकी ऐसी सकाम भक्तिसे भी प्रसन्न हो जाते हैं और उसे स्वर्गादि उच्च लोकोंमें भेज देते हैं।

भगवान्ने भक्तजनोंकी जो तीसरी श्रेणी बतायी है, वह है जिज्ञासु भक्तकी। जिज्ञासु भक्त वह है, जो सत्यान्वेषणमें तत्पर है, परमतत्त्वके बारेमें जाननेको इच्छुक है। प्रभुमें विलयके लिये आतुरताका जन्म होना जिज्ञासाका उदय होना है। ऐसा व्यक्ति सत्संगमें जाता है, धार्मिक स्थलोंका भ्रमण करता है, महापुरुषोंके सांनिध्यमें बैठकर परमात्मतत्त्वका अनुसन्धान करता है और अध्यात्मसम्बन्धी सभी शंकाओंका समाधान खोजता है। ऐसे जिज्ञासुको निष्काम भक्त ही माना गया है; क्योंकि उसकी भक्तिका उद्देश्य किसी लौकिक कामनाकी पूर्ति करना नहीं होता है। निष्काम भक्तिके कारण जिज्ञासु भक्त प्रथम एवं द्वितीय दोनों प्रकारके भक्तोंसे श्रेष्ठ माना गया है। परमात्मतत्त्वकी जिज्ञासा जीवके मनमें अचानक उत्पन्न नहीं होती। जब जीवके जन्म-जन्मान्तरोंके पुण्य संग्रहीत होते चले जाते

हैं, तब कहीं जाकर भगवान्‌को पानेकी जिज्ञासा होती है। नियमित उपासना तथा साधनासे अनेकों जन्मोंके कुसंस्कारोंकी कल्मष हटती है और अन्त:करण निर्मल होता है। जैसे-जैसे मन निर्मल होता जाता है, वैसे-वैसे यह जिज्ञासा भी बढ़ती जाती है कि मानव-जीवनकी सारवस्तु संसार नहीं, अपितु सर्वेश्वर हैं।

एक बार एक तपस्वी साधु साधना कर रहा था, तभी वहाँसे देवर्षि नारदजी निकले। नारदजीको देखकर उस साधुने पूछा—देवर्षिजी! आप तो हमेशा भगवान्‌के सांनिध्यमें रहते हैं। कृपया हमारे बारेमें भी उनसे पूछें कि वे हमें कब दर्शन देनेवाले हैं। कुछ दिनों बाद नारदजी लौटकर पृथ्वीपर आये तो साधुने जिज्ञासा प्रकट की और कहा—देवर्षिजी! बताइये, भगवान्‌ने क्या उत्तर दिया है? नारदजीने कहा—वत्स! भगवान्‌ने कहा है कि जिस पीपलके पेड़के नीचे तुम जप-तप कर रहे हो, उसमें जितने पत्ते हैं, उतने ही जन्म होनेतक तुम्हें भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करनी होगी। यह सुनकर साधु खुशीमें झूमने लगा और कहने लगा कि भगवान् कितने दयालु हैं। वे कितने करुणानिधान हैं। यह क्या कम बात है कि भगवान्‌के परम भक्तोंकी सूचीमें मेरा नाम तो है। भगवान्‌ने उस साधुकी भक्ति और विश्वासकी प्रगाढ़ताको देखते हुए उसी जन्ममें ही उसे दर्शन दे दिये; क्योंकि प्रभु अपने भक्तसे अधिक समयतक दूर नहीं रह सकते।

भक्तिका चौथा आयाम है ज्ञानीकी भक्ति, जिसका आधार है मन और बुद्धिकी भगवान्‌के साथ एकात्मता। भक्तिके प्रथम तीन आधार प्रारम्भिक पायदान कहे जा सकते हैं, पर पराकाष्ठा तो चौथे पायदानपर पहुँचकर ही होती है। ज्ञानके स्तरपर ही वह उच्चतम स्वरूप उभरकर आता है। भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उसकी उपासना करना ज्ञानी भक्तका कार्य है। भगवान्‌ने ज्ञानीको सर्वोत्तम भक्त कहा है; क्योंकि वह नित्य भगवान्‌में एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम भक्तिवाला होता है। ज्ञानी भक्त गुणातीत होता है और मन से ऊपर उठकर मायाको लाँघ जाता है, उसका तादात्म्य परमसत्तासे हो जाता है। भगवान् गीता (७।१७)-में कहते हैं कि ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है और मैं भी उसे अत्यन्त प्रिय हूँ—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

भगवान् कहते हैं कि मुझे ऐसा ज्ञानी भक्त सबसे अधिक पसन्द हैं, जिसमें ज्ञान और भक्ति दोनोंकी चरम पराकाष्ठा हो। परमात्माको तत्त्वसे जानकर ज्ञानीभक्त सभी जीवोंके अन्दर एक ही परमतत्त्वका दर्शन करता है। इसलिये वह सभी प्रकारके भक्तोंसे श्रेष्ठ है। गीताके अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ज्ञानीभक्त तो मेरा साक्षात् स्वरूप ही है; क्योंकि वह मद्‌गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानीभक्त अतिउत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छे प्रकारसे स्थित है। ऐसा महात्मा अतिदुर्लभ है, जो बहुत जन्मोंके अन्तमें तत्त्वज्ञानको प्राप्तकर 'वासुदेव ही सबकुछ है' ऐसा समझकर मुझे निरन्तर भजता है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

उपर्युक्त श्लोकसे ज्ञान और भक्ति दोनोंकी महत्ता प्रतिपादित होती है। ऐसा ज्ञान जो तार्किक विचारोंसे सर्वथा मुक्त है और जो प्रभुके प्रति समर्पणभावसे युक्त है। महापुरुषोंका कथन है कि मनुष्यको ज्ञानीभक्त बननेका अभ्यास करना चाहिये, ताकि वह प्रभुका प्रिय बन सके। आजकल जिस ज्ञानकी चर्चा सर्वाधिक होती है, वह तो तर्कके आधारपर यह भी प्रमाणित करनेकी कोशिश करता है कि भगवान्‌का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसा ज्ञान निरर्थक है, जो मनुष्यको नास्तिक ही बना दे। ऐसे ज्ञानी शिक्षाविद्, शास्त्रार्थ करनेवाले विद्वान्, प्रकाण्ड पण्डित, दर्शनशास्त्री, वैज्ञानिक, अधिवक्ता कोई भी हो सकते हैं, परंतु उन्हें प्रभुका भक्त हरगिज नहीं कहा जा सकता। आदि जगद्‌गुरु शंकराचार्यजीके अनुसार ज्ञान दो प्रकारका होता है— प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञान। प्रत्यक्षज्ञान अनुभूतिका ज्ञान है, जो केवल अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होता है। परोक्षज्ञान वह है, जो पुस्तकों और धर्मग्रन्थोंके अध्ययनसे मिलता है। यह बाह्यज्ञान है, जो सूचनाओंपर आधारित है। इस ज्ञानका भक्तिसे कोई सरोकार नहीं है। वस्तुतः भक्तिजनित, अहंसे मुक्त और अनुभवपर आधारित बौद्धिक विकास ही ज्ञानीभक्तका सृजन करता है। यही सच्चा और वास्तविक ज्ञान है। जो ज्ञान प्रभुसे तादात्म्य स्थापित करनेमें असमर्थ हो, उसे वास्तविक ज्ञान भला कैसे कहा जा सकता है?

अपने उद्धारके लिये खास बातें

(श्रीबरजोरसिंहजी)

हमारा शरीर निरन्तर जा रहा है, बचपन गया, जवानी चली गयी और हमें पता भी नहीं चला; ऐसे ही एक दिन बुढ़ापा भी चला जायगा। धीरे-धीरे मौत हमारे करीब आ रही है। अतः हमें अपना समय उसी काममें लगाना चाहिये, जिसे हम ही कर सकते हैं, दूसरा कोई भी कर नहीं सकता, अपना कल्याण या अपना उद्धार केवल एकमात्र हम ही कर सकते हैं। संसारके काम तो दूसरे लोग भी कर सकते हैं। हम यहाँ निर्धारित समयसे ज्यादा रहनेवाले नहीं हैं। हम यहाँ आये हैं और हमें एक-न-एक दिन जाना ही पड़ेगा। हम यहाँ पशु-पक्षियोंकी तरह अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही नहीं हैं, हम यहाँ अपना उद्धार करनेके लिये भी आये हैं। इसलिये सबसे पहले यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् मेरे हैं। जैसे माँ मेरी है—यह विश्वास होता है, वैसे ही भगवान् हमारी सबसे बड़ी माँ हैं। वे माँ भी हैं—पिता भी हैं—ऐसा मानना चाहिये। परमात्मा कैसे भी हों, आखिर हैं तो हमारे ही, संसार कैसा भी हो, उसको एक-न-एक दिन छोड़ना ही है। जब उसे छूट जाना है तो उसपर क्या विचार करें, जिसको पाना है उसपर विचार करें।

परमपिता परमात्मा हैं और वे अपने ही हैं, उनको छोड़कर शरीरको मुख्य मानना महान् गलती होगी। श्रीभगवान्‌के अंशको श्रीभगवान्‌में ही स्थित होना चाहिये, पर हम भूलवश प्रकृतिके अंशको पकड़े बैठे हैं—यही गलती है। श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५।७)

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है, परंतु वही जीवात्मा प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है अर्थात् वह उन्हें ही अपना मान लेता है।

जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि श्रीभगवान्‌जी हमें निरन्तर अपने पास बुला रहे हैं, इसीलिये हम-आप कहीं टिक नहीं पाते, जिसे पकड़ते हैं, वह हमारे हाथसे छूट जाता है। इसीलिये परमपिता परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम सब कुछ छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

शरणमें जानेका काम जीवका है और सब पापोंसे मुक्त करनेका काम श्रीभगवान्‌जीका है। अपने उद्धार (कल्याण)-के लिये खास बात यही है कि आपको मैं-पन बदलना ही होगा। यदि मैं साधक हूँ तो साधनसे विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ? दूसरेका कर्तव्य देखना अनधिकार प्रयास है। साधन करनेका निर्धारित समय नहीं होता, ऐसा नहीं है कि इतने घण्टे कर लिया, अब छुट्टी हो गयी। साधना करना तो जीवन है। इसीलिये श्रीगीताजीमें श्रीभगवान्‌जीने कहा है कि **'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** अर्थात् तू सब समयमें निरन्तर अपने सभी कार्योंको करते हुए मेरा स्मरण कर।

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर उपसंहाररूपमें हम कह सकते हैं कि हमें अपने उद्धारके लिये दो बातें खास करनी हैं—एक तो संसारको भगवान्‌का स्वरूप मानकर कर्तव्यबुद्धिसे उसकी सेवा करनी है और दूसरी बात यह कि श्रीभगवान्‌जीसे ही प्रेम करना है, उन्हें ही अपना मानना है। ये काम हमें किसी भी हालतमें नहीं छोड़ने हैं।

तुलसीकी दृष्टिमें सच्चे सन्त और ढोंगी असन्त

(श्रीअर्जुनलालजी बंसल)

भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी इस पावन भूमिमें आजकल सन्तरूपमें अनेक ढोंगी असन्त हमारे समाजका शोषण करनेमें लगे हैं। हममेंसे ही अनेक स्त्री-पुरुष अपने भोले-भाले स्वभावके कारण उनके कुचक्रमें फँसकर अपना तन-मन-धन सब कुछ गवाँ बैठते हैं। झूठी आस्था और अज्ञानके कारण अपनी सारी पूँजी लुटाकर उनके वशीभूत हो जाते हैं। पाप और वासनामें डूबे ऐसे तथाकथित सन्तोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

आजकल इन तथाकथित साधुओंके प्रपंचोंमें फँसकर हम सन्त और शैतानकी पहचान नहीं कर पाते। इस विषयमें हमारा मार्गदर्शन करते हुए सन्त तुलसीने श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डमें लिखा है—

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा॥

सन्तोंका निर्मल चरित्र तथा शीतल स्वभाव कपासकी भाँति स्वच्छ, निर्मल, उज्ज्वल और अनेकों गुण अपने आँचलमें समेटे, रसरहित फल-जैसा होता है। जैसे कपास अनेक क्रियाओंद्वारा भाँति-भाँतिके दुःख सहकर वस्त्ररूपमें मर्यादा और सुखका आधार बनता है, उसी प्रकार सन्तोंके समस्त कर्म जीवमात्रके लिये स्वार्थरहित हितकारक होते हैं। ऐसे सन्त निर्विकाररूपसे लोक और परलोक सुधारनेमें सहायक बनकर संसारमें वन्दनीय हो जाते हैं।

मानसके अरण्यकाण्डमें महर्षि नारदने भगवान् श्रीरामसे सन्तोंके लक्षण बतानेकी प्रार्थना की है—

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भव भंजन भीरा॥

नारदजीके मुखसे ऐसे प्रिय वचन सुनकर प्रभुने कहा—हे ऋषिवर! सुनिये, मैं आपको सन्तोंके गुण कहता हूँ—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥

सन्तजन काम, क्रोध, लोभ, मोह और ईर्ष्या-जैसे विकारोंको अपनेसे दूर रखते हैं, वे कभी भी इनके वशीभूत नहीं होते। ये निष्पाप, निष्काम, निश्छल चित्तवाले तथा अन्तर और बाह्य दोनोंमें शुद्ध और सुखके धाम होते हैं।

ऐसे सन्तोंका ज्ञान असीमित होता है, वे बड़े ही सचेत, सबका सम्मान करनेवाले और स्वयं अहंकारहीन होते हैं।

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥

सच्चे सन्त स्वभावसे अपनी प्रशंसा सुनकर अप्रसन्न होते हैं और अन्योंकी प्रशंसा और उनके गुणोंकी चर्चा सुनकर हर्षित होते हैं। वे राग-द्वेषसे दूर, तीनों तापोंसे मुक्त और नीतिमें सदैव रत रहते हैं। स्वभावसे वे सरल और प्राणीमात्रमें प्रीति रखनेवाले होते हैं। जप-तपमें लीन सन्त इन्द्रियोंका दमन करनेवाले और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखनेवाले होते हैं। वे श्रद्धा, क्षमा, मैत्री और दयासे सम्पन्न होते हैं।

बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥

हे ऋषिवर! सन्त वैराग्य, ज्ञान, नम्रता और विज्ञानके साक्षात् स्वरूप होते हैं। उन्हें समस्त शास्त्रों, वेदों और पुराणोंका भरपूर ज्ञान होता है। वे छल-कपट, पाखण्ड और अहंकारसे मुक्त होते हैं, वे पापके मार्गपर स्वप्नमें भी पैर नहीं रखते।

सन्त तुलसीने मानसके उत्तरकाण्डमें लिखा है—

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

सन्तका संग भवबन्धनसे मुक्त होने तथा कामी और पापी असन्तका संग जन्म और मृत्युके बन्धनमें बँधे रहनेका मार्ग है। विद्वानों तथा वेद-पुराणादि ग्रन्थोंका भी यही मत है। अब भरतने श्रीरामसे सन्त-महिमा सुनानेका आग्रह किया।

करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥

संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्ह गाई॥

हे रघुनाथजी, मैं आपके प्रति धृष्टता करते हुए वेद-पुराणोंमें वर्णित सन्तोंकी महिमा आपके श्रीमुखसे सुनना चाहता हूँ। भरतकी जिज्ञासा शान्त करते हुए प्रभु श्रीरामने कहा, हे तात, अब मैं सन्तोंके गुण और असन्तोंके अवगुण विस्तारसे तुम्हें बताता हूँ। उन्होंने कहा—

संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥
बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥

सन्तोंके लक्षण वेद और पुराणोंमें विस्तारसे वर्णित किये गये हैं। सन्त और असन्तकी परस्पर ऐसी करनी होती है, जैसे चन्दन और कुल्हाड़ीकी होती है। कुल्हाड़ीरूपी असन्त चन्दनको काटते हैं, परंतु चन्दनरूपी सन्त उस कुल्हाड़ीरूपी खलको अपनी सुगन्धसे सुवासित कर देते हैं।

सन्तजन विषयोंसे दूर रहते हैं, शील और सद्‌गुणोंकी खान होते हैं। वे पराये दु:खमें दु:ख और पराये सुखमें सुखका अनुभव करते हैं। वे जगत्‌के सभी प्राणियोंमें समान भाव रखते हैं, शत्रुभावको न जानते हैं और न पहचानते हैं। वे अहंकारसे मुक्त और वैराग्यमें लीन रहते हैं, ऐसे सन्त लोभ, हर्ष, क्रोध और भयका त्यागकर जीवन जीते हैं।

ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

हे तात! ये सब लक्षण जिस मनुष्यमें दिखायी देते हैं, वही सच्चा सन्त होता है।

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

अब असन्तोंके स्वभाव सुनो। जाने-अनजाने कभी भी ऐसे जीवोंकी संगति नहीं करनी चाहिये। इनका संग सदैव दु:खदायी होता है। दुष्ट प्रवृत्तिके लोग परायी सम्पत्ति देखकर ईर्ष्यासे जलते रहते हैं, दूसरोंकी निन्दा सुननेमें हर्षका अनुभव करते हैं, मानो उन्हें कोई अनचाही निधि मिल गयी हो। ऐसे लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह और मदके वशीभूत होकर सदा पापपूर्ण कृत्योंमें लीन रहते हैं, वे अकारण ही किसीसे भी वैर ठान लेते हैं। भलाई करनेवालेके साथ ऐसे लोग बुराई ही करते हैं।

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहि बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥

जो जन परायी स्त्री, पराये धन और परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं, ऐसे पापी मनुष्य नररूपमें राक्षस ही होते हैं। वे सदा लोभके वशीभूत होकर ही अपने कार्य करते हैं। वे पशुओंके समान खाने-पीने और मैथुनमें लीन रहते हैं। इन्हें मृत्युका भी भय नहीं लगता। ऐसे दुष्टजन माता, पिता, गुरु और ब्राह्मणोंका भी सम्मान नहीं करते। इन्हें संस्कारित जनोंका संग भी अच्छा नहीं लगता।

अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥

ऐसे पापीजन अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी, वेदोंकी निन्दा करनेवाले और पराये धनको हड़पनेवाले होते हैं, वे लोग सत्पुरुषोंसे द्रोह करनेमें कभी भी नहीं चूकते। छल और कपटसे भरे हृदयवाले ऐसे नीच लोग सुन्दर और आकर्षक वेष धारण किये रहते हैं।

सन्त तुलसी कहते हैं, हे देवभूमि भारतके निवासियो, मैंने तुम्हें भगवान् श्रीरामके माध्यमसे सन्तों और असन्तोंके गुण और दोषोंसे अवगत करानेका प्रयास किया है। प्रभुने अपने श्रीमुखसे ऐसा भी कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

दूसरोंकी भलाईके समान कोई धर्म नहीं और दूसरोंको कष्ट देनेसे बड़ा कोई पाप नहीं है।

इस प्रकार भगवान्‌ने मोक्षप्राप्तिके लिये भी मार्गदर्शन किया है और घोर नरकका कष्ट झेलनेका भी मार्ग बताया है। एक ओर सन्त और दूसरी ओर असन्त। आप किसे अपनाते हैं, निर्णय आपके विवेकपर निर्भर करता है।

साधकोपयोगी उपदेशामृत

[व्रजभाषामें]

(गोलोकवासी सन्त श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

श्रद्धा

श्रीसद्‌गुरु भगवान्‌के प्रति अपने आपकौ पूर्ण समर्पण, अपने मन, बुद्धिकौ विसर्जन एवं श्रीसद्‌गुरु भगवान्‌की कृपापर पूर्ण भरोसौ ये शिष्यकी उन्नतिके परिचायक हैं।

श्रीभगवत्प्राप्तिके सच्चे प्रयत्नोंद्वारा प्रेमी संतकी प्राप्ति

पूर्ण सत्यता एवं पूरे प्रयत्नके साथ जब साधक इनकी प्राप्तिके लिये जुटेगौ तबही वीतराग श्रीभगवत्प्रेमी संत मिलेंगे।

संतकृपासे सब सुलभ

संतकी कृपासौं सब कुछ सुलभ है जायगौ। जो श्रीभगवत्प्रेम जीवके लिये महा-महा दुर्लभ है, वह संत-कृपासौं अनायास ही प्राप्त है जाय है।

संतके दृढ़ आश्रयसे सब कुछ सुलभ

काहू एक प्रेमी संतकौ दृढ़ आश्रय एवं उनमें श्रद्धा बन जाय तौ संयम, सदाचार, श्रीभगवद्भजन एवं श्रीभगवत्प्रेम अपने-आप ही आ जाय है। श्रद्धा ही मुख्य है। काहू एक प्रेमी संतके बन जाऔ, बस फिर बेड़ा पार है।

मनकूँ इनमें लगानौ

मनकूँ तनिकसौं इष्टसौं छुवाय दें तौ बस फिर सब काम बन जावैगौ। एक बार इष्टमें लगवेपै फिर वह वहाँसौं नहीं हट सकै है। हम स्वयं भुक्तभोगी हैं। प्रयत्न यही करनौ चाहिये कि मन भगवान्‌में लगै, इनसौं छू जाय। यह मन भगवान्‌कौ है। याकूँ संसारी कामनमें न लगावें। संसारी कामनकूँ प्रारब्धके ऊपर छोड़ देय और संसारकी ओरसौं मनकूँ निश्चिन्त करकैं इनमें लगाय देय। यदि याकूँ एक बार हू इष्ट-चिन्तनकौ आनन्द प्राप्त है जाय तौ फिर गूंगेके गुड़के स्वादकी भाँति वा आनन्दकूँ बतायवेमें असमर्थ है जायगौ तथा वाही आनन्दमें डूबौ रहैगौ। यह अवस्था जीवन्मुक्ति है। मरे पीछे तुरन्त लीलामें प्रवेश प्राप्त है जाय है। या अवस्थाकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है जीवन सदाचारयुक्त हो, संयमी हो तथा काहू संतकी आज्ञानुसार ही हो।

विरह

प्रेमकौ फल विरह है। प्रेमके ही रूप हैं पूर्वानुराग, मिलन और विरह। विरह सबसौं अन्तिम एवं उत्कृष्ट है। काहू विरले भाग्यशाली अति निकट प्रेमीकूँ ही विरहकी प्राप्ति होय है। विरहकी प्राप्तिके पश्चात् कछु शेष नायँ रहै। पूरौ अन्त:करण श्रीप्राणप्रियतममें सर्वथा जुट जाय है। ऐसी अवस्थामें शरीर एवं संसार सर्वथा विस्मृत है जाय है। जीवन इनके लिये रोते-कलपते, तड़फते ही व्यतीत होय है। न अपनी सुधि, न संसारकी सुधि, केवल इनकौ ही चिन्तन। विरहकौ आनन्द इतनौ है कि वाके समक्ष प्रेमीकूँ सब कुछ फीकौ लगवे लगै। विरह ही प्रेमीकौ जीवन बन जाय है।

लक्ष्य यही या अवसरका लाभ

अबही श्रीप्राणनाथकी ओरसौं आपलोगनकूँ पूरी छूट है, बड़ी सुगमता है। अवसरसौं लाभ उठायवेके लिये आवश्यक है अपनौ विचार बन्द, केवल श्रीसद्‌गुरु आज्ञापालन बस तथा रोयकैं इनसौं प्रार्थना करनौ। कोई कामना, वासना न रहै। पूरे रूपसौं इनके बन जायँ। यही अवसरकौ लाभ है। या अवसरकूँ हाथसौं न गवावें। नहीं तौ जन्म-जन्म रोनौ परैगौ।

यह अवसर खो न जाय

सब भगवानके बन जायँ। कोई कामना-वासना न रहै। यह अवसर न खो जाय। नहीं तौ जन्म-जन्म रोनौ परेगौ। अबही पूरी छूट है। सब कुछ प्राप्त होनौ बड़ौ सुलभ है। उपाय है अपने विचार बन्द केवल आज्ञापालन।

दुर्वासना विनाशकी युक्ति

सादगीयुक्त तपस्वी जीवन एवं निष्काम भावसे श्रीसद्‌गुरु आज्ञानुसार भजनद्वारा दुर्वासना मिटेगी। वासना मिटायकैं भजन करवेसौं दिन-दिन वृत्ति उठती जान परैगी। [**संकलन—बाबा श्रीरामदासजी**]

'ही' और 'भी' में सन्तुलन

(ब्रह्मचारी श्रीत्र्यम्बकेश्वरचैतन्यजी महाराज, अखिलभारतवर्षीय धर्मसंघ)

आप सोचते होंगे कि ये व्यक्ति क्या लिखता है? क्या है ये 'ही' और 'भी'। परंतु मेरे मनकी बात आपको अपनी-जैसी लगने लगेगी। थोड़ा मेरे शब्दोंको अपने हृदयमें उतरने दो, थोड़ा मेरे करीब आओ। हमारे समाजमें, संस्थामें, घर-परिवारमें, जितने कम 'ही' वाले लोग होंगे, उतना ही अधिक प्रेम-सद्भाव-सौहार्द्रसे सम्पन्न शान्त वातावरणमें समुन्नतिका मार्ग प्रशस्त होगा। 'ही' अर्थात् जिद्दी, हठी, अहंकारी, रूखा, अशान्त। 'भी' अर्थात् विनम्र, मधुर, शान्त, दूसरोंके विचारको भी स्वीकृति देनेवाला समन्वयी। जैसे—हमारा धर्म ही श्रेष्ठतम है, अन्य सब काफिर हैं, हमारा धर्मग्रन्थ ही सर्वश्रेष्ठ है, शेष बकवास है। हम ही श्रेष्ठ हैं, अन्योंको जीनेका हक नहीं है। इस 'ही' के भयानक ज्वालामुखीने पूरी दुनियाके अमन-चैनको निगल लिया है, जलाकर खाक कर दिया है। आप मेरा संकेत समझ रहे होंगे। भारतीय चिन्तन-धाराके विविध आयाम ये स्पष्ट करते हैं कि यहाँ वैविध्यको अंगीकार करनेमें संवादका सहारा लिया गया, विवादका नहीं। जैन, बौद्ध, चार्वाक-सदृश इन त्रिविध नास्तिक दर्शनोंको भी मान्यता देना अपने-आपमें आदर्श प्रमाण है। इन तीनों परम्पराओंके समादरको आज भी सँजोये हुए भारतीय ग्रन्थ अपनी सहिष्णुताकी सुगन्धसे विश्वको महका रहे हैं। अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, माध्व आदि ही नहीं, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, सांख्य आदि न जाने कितने भेदोपभेदोंसे सजा ये चिन्तन-उपवन आज भी प्रासंगिक है।

भाइयो! जिन्दगी बहुत छोटी-सी है, समय बहुत कम है। आत्मज्ञानरूपी (भगवत्प्राप्तिरूपी) लक्ष्य बड़ा तो नहीं है और दूर भी नहीं है, परंतु व्यर्थकी उलझनों, व्यस्तताओं और विवादोंने इस लक्ष्यको दुर्लभ तथा दुर्गम बना डाला है। हम घरमें हैं अथवा अपने कार्य-क्षेत्रमें, वहाँ दिनभरमें सैकड़ों विचारोंके, व्यवहारोंके लोग मिलेंगे। यह आवश्यक तो नहीं कि सबके विचारोंसे आप सहमत हो सकें अथवा सब आपके विचारोंसे सहमत हो सकें। तब क्या इस बातको विवादका विषय बनाकर अमूल्य समयको व्यर्थमें गँवाना समझदारी होगी? नहीं न। जहाँ बात बढ़ती-जैसी लगे, वहाँ एक खूबसूरत मुसकानके साथ बातको खत्म करनेके लिये यह कहकर किनारा कर लीजिये कि भाई! आपकी बात भी आपकी चेतना तथा आपके चिन्तनके अनुसार सही हो सकती है, परंतु हमारा मन, हमारी मति तथा हमारा स्वाध्याय उस स्तरको समझनेके लिये समयकी अपेक्षा करता है। और यह बात केवल पढ़कर मुसकरानेके लिये नहीं है। यह ब्रह्मास्त्र है, अचूक है, सैकड़ों बार आजमानेके बाद लिखने बैठे हैं। आप आजमाकर देखना, विवादोंसे बचनेकी कला सीखनेपर मनको सुकून मिलेगा।

निर्गुण-निराकार उपासना ही सत्योपासना है, मूर्ति-पूजा भ्रम है, पाखण्ड है अथवा श्रीराम ही भगवान् हैं। इस 'ही' की अपेक्षा श्रीराम भी भगवान् हैं, श्रीकृष्ण भी भगवान् हैं, इस प्रकार 'भी' का प्रयोग करना समाजहित तथा आत्महितमें रहेगा। कबीर, तुलसी, सूरदास, मीरा, रहीम आदि सभी भक्तप्रवर अपने-अपने स्तरसे अध्यात्मके संपोषक हैं। हमारा उद्देश्य हमारे सामर्थ्यके अनुसार होगा तो कभी कठिनाई न होगी। जैसे पक्षियोंको बोध रहता है कि कौन कितना ऊँचा तथा दूरतक उड़ सकता है। अतः सबने स्वभावतः सीमा-निर्धारण कर लिया है, परंतु मनुष्यकी सर्वाधिक जटिल समस्या है, वह लक्ष्य-निर्धारण कर नहीं पाता। कोई कर भी लेता है तो उसको प्राप्त करनेके लिये जितना धैर्य, उत्साह एवं सतत प्रयास चाहिये, उतना नहीं कर पाता। परिणामतः खिन्नताके साथ पलायन करता है। बेहोशीमें घटी अतीतकी इन घटनाओंको अफसोस या जोशके साथ सुनाकर मनको बहलाता रहता है। अपनी नाकामियोंको छिपानेका असफल प्रयास करता रहता है।

एक बात जो अजीब-सी है, परंतु है बहुत कामकी। देखना, ध्यान देना, जो व्यक्ति अपने अतीतकी घटनाओंको (जाति, कुल, पूर्वजसम्बन्धी अथवा स्वसम्बन्धी

घटना) सुनानेमें समय गँवा रहा है, (वह चाहे अतीतके प्रति श्रद्धावनत हो अथवा शिकायतसे भरा हो) वह वर्तमान समयके बहुमूल्य क्षणोंको नष्ट कर रहा है, जिनपर भविष्यके उत्थानका भवन टिका है। अतीत (बीता हुआ कल) जो लौटाया नहीं जा सकता, भविष्य (आनेवाला कल) जो अभी पैदा ही नहीं हुआ, उसकी चर्चा, उसकी चिन्ता ...उफ! कितनी नासमझी है। जो कलमें जीते हैं, वे अकल (बुद्धि)-से नहीं जीते, जो अक्लमन्द (बुद्धिमान्) हैं, वे कलमें कभी नहीं जीते। वे वर्तमानकी खूबसूरतीका आनन्द लेते हैं। वे समस्याका नहीं, समाधानका मार्ग चुनते हैं। वे कलहकी ओर नहीं सुलहकी ओर बढ़ते हैं। वे विवाद नहीं, संवादको महत्त्व देते हैं। परिणामत: विपन्नताके स्थानपर सम्पन्नता तथा खिन्नताके स्थानपर प्रसन्नताको प्राप्त करते हैं।

ये सब 'ही' और 'भी' का ही चमत्कार है। आप बारीकीसे, गौरसे, तहमें जाकर जानना। जिस घरमें कलह होता होगा, वहाँ अशान्ति, तनाव, उच्चाटन, दरिद्रता तथा खिन्नता पसरी रहती होगी। चेहरे बुझे हुए होंगे अथवा क्रोधाग्निसे तमतमाये-से क्रूरता लिये होंगे। वहाँके रहनेवाले अधिकतर 'ही' वाले होंगे। मैं ही ठीक हूँ, मैं ही करता हूँ, मैं ही क्यों करूँ, मेरी ही जान आफतमें है, मैं ही फालतू हूँ, मैं ही कमाता हूँ, मैं ही लूँगा, मैं ही टी०वी० देखूँगा आदि-आदि। 'ही'का बोलनेवाले कठोर होते हैं, जबकि 'भी' बोलनेमें मृदुता है, सौम्यता है। अत: जहाँ 'भी' सिद्धान्तके उपासक होते हैं। वहाँ मतभेद हो सकता है, मनभेद नहीं हो सकता। विचारोंका आदान-प्रदान भी आसानीसे होता है। संवाद होता है, विवाद नहीं होता। फलत: वातावरणमें प्रसन्नताकी खूशबू, सम्पन्नताका पराग, शान्तिके फूल तथा आनन्दका उपवन खिला होगा, पर-मत-सहिष्णुता सुखशान्तिमय जीवनका आधार है। रावण 'ही' का उपासक है। श्रीराम 'भी' के उपासक हैं। रावणने अपने अनुज भक्तप्रवर विभीषणको ठोकर मारकर निकाल दिया।

मम पुर बस तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलि जाइ तिन्हहि कहु नीति॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···॥

श्रीरामजी अंगदसे कहते हैं—भैया! तुम रावणके पास जाकर ऐसा प्रयास करना कि हमारा भी काम बन जाय तथा उनका भी अहित न हो।

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

कहनेका तात्पर्य है कि आप अपने जीवनको अच्छा, सच्चा तथा स्वच्छ बनाना चाहते हैं तो 'भी' और 'ही' का विचार अवश्य करें। आपको लगेगा मेरा हित, समाजका हित, संसारका हित 'ही' से कभी नहीं होगा। केवल 'भी' है, जो प्रकाश एवं प्रसन्नताकी ओर ले जायगा। निवेदन है कि विचारका उद्देश्य व्यर्थकी अनर्थकारी सांसारिक कलहसे विमुक्त जीवनका निर्माण हो।

कुछ कह सकते हैं कि 'ही' से ही जीवका कल्याण सम्भव है। यथा—भगवान् ही उपास्य हैं, भगवान् ही जगत्‌का आधार हैं इत्यादि, ये सर्वथा सत्य है, परंतु ये स्थिति तो जाग्रत् महामानवोंकी है। सुलझे हुए लोगोंकी है। यही तत्त्व हाथ लग जाय, चित्तमें स्थिर हो जाय तो फिर विवादका अवकाश ही कहाँ रहेगा?

निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहि बिरोध॥

हमारा प्रयास तो सुप्तजनको जगानेका है, उलझनमें अटके-भटके हुए जीवको दिशा दिखानेका है। ये प्रयास मीलके पत्थरकी तरह बिना बोले मार्गकी दिशा बताने-जैसा है। मीलका पत्थर अनजान अथवा भ्रमित जनोंका बहुत बड़ा सहारा होता है, जो जानकार हैं, उनको मीलका पत्थर अपने लिये तो उपयोगी नहीं लगता, परंतु वह मार्ग दिखानेके लिये उपयोगी होता ही है।

मानवमात्रका उद्देश्य है—सुख, सुविधा, शान्ति, सम्मान, अच्छा स्वास्थ्य तथा समुन्नति। आप स्वयं ही विचार करें कि इन सबको पानेमें सहायक 'ही' है अथवा 'भी'।

रावणके पास स्वर्णनिर्मित नगर है, सोनेका मकान है अर्थात् भौतिक सम्पदाका उच्चतम प्रदर्शन! कोई व्यक्ति स्वर्णके पात्र बना सकता है, स्वर्णके वस्त्र पहन सकता है, स्वर्णका मन्दिर बना सकता है, स्वर्णका घर भी बना सकता है, परंतु पूरा नगर ही सोनेका बनाये—ये कैसे सम्भव है? इतना होनेपर भी रावणके जीवनमें अमन-चैन नहीं है, तृप्ति नहीं है, और अधिककी लालसा है। 'ही' की भारी जिदने उसे अपनोंके बीच अकेला बना दिया। सर्वसामर्थ्यशाली व्यक्ति भी साधारणसे वानर तथा भालुओंकी निहत्थी सेनाके आगे धराशायी हो गया। शेष आपके हाथोंमें, जो उचित लगे, समझें और करें।

जनकनन्दिनी सीताका वनगमन-आग्रह

(श्रीजगदीश प्रसादजी गुप्ता)

'आप कापुरुष कबसे हो गये? आप अपनी भार्याकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ हैं? मेरे पिता मिथिला-नरेश विदेहराज जनकने जामाताको दुर्बल जानकर अपनी कन्या दी थी? जो त्रिभुवनका रक्षक है, वह किस बातसे भयभीत है? आपको कहते हुए ऐसी बातें शोभा देती हैं? वन जाना मेरे लिये योग्य नहीं है और आपके लिये है? मैं उच्चकुलमें जन्मी, राजसदनमें पली हूँ, मैने मृग-शशक-जैसे पशु, पक्षी और पुष्प ही देखे हैं। गज, वाराह, व्याघ्र, महासर्प, ऋक्ष और निशाचरोंकी विहार-भूमि है वन। वहाँ पद-पदपर मृत्यु मुख फाड़े मेरे लिये ही छिपी है। वन-पर्वतोंका हानिकारक जल, वहाँके कड़वे-कसैले कन्द-मूल, शयनकी ऊबड़-खाबड़ जमीन, वहाँ चलते हुए भयानक आँधी-तूफान, झंझावत तथा दंश-मशकोंसे उपद्रित वन मेरे लिये ही हैं। तुम्हारे लिये वन जाना किसी प्रकार योग्य नहीं है।' अत्यन्त दु:खके आवेशमें रोषपूर्वक जनकनन्दिनी श्रीसीताजी कहने लगीं—'मेरे स्वामी! आप वनमें जायँगे और मैं यहाँ सुख भोगनेके लिये रहूँगी? मेरे न माता है, न पिता, न भाई, न सेविका और न दूसरे कोई सम्बन्धी, मैं केवल आपकी और मेरे एकमात्र आप हैं।'

क्रोधावेशमें, सीताजीने अपने स्वामी श्रीरामसे अपने ह्रदयके उद्‌गार प्रकट किये। कुछ क्षण बाद वे शान्त हुईं और प्रभुके सुनाये उन वचनोंका मनन करने लगी—'सत्यप्रतिज्ञ पिताने छोटी माता कैकेयीको दो वरदान दिये हैं—भरत अयोध्याके राजा होंगे और मुझे चौदह वर्ष वनमें रहना है। मेरे पीछे तुम्हें माता-पिताकी सेवा करनी है और माता कैकेयीका सम्मान करना है। भरत-शत्रुघ्नको अपना पुत्र समझकर उनसे स्नेह करना। तुम भरतसे कुछ कहना मत। भरतके सम्मुख कभी मेरी चर्चा मत करना। उनपर अपनी किसी आवश्यकताका भार मत डालना। उनके अनुकूल रहना। यद्यपि भरत धर्मज्ञ, उदार तथा सद्‌गुणैकधाम हैं, किंतु राजा कभी अकारण प्रसन्न और कभी अकारण अप्रसन्न होते ही हैं। अत: भरतका ध्यान रखना। मुझे प्रसन्न मनसे विदा करो। मात्र चौदह वर्षकी अवधि पूर्ण करके शीघ्र तुम्हारे पास लौट आऊँगा।'

सीताजी अपनेको सम्हालकर बोलीं—'मेरे स्वामी! बचपनमें मुझे देखकर एक ज्योतिषीने और एक तपस्विनी भिक्षुणीने भी मेरे माता-पितासे कहा था—'इस कन्याको वनमें जाना पड़ेगा। मेरे आराध्य ही वन जा रहे हैं तो मुझे वन जानेमें क्या कठिनाई है? मैं आपके साथ भयंकरतम वनमें चलनेको उद्यत हूँ। मेरा प्रतिवाद मत कीजिये। वनमें आपके आगे-आगे अपने पैरोंसे कुश-कण्टक रौंदती चलूँगी। मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक रहूँगी और आपके किसी कष्ट, किसी असुविधाका कारण नहीं बनूँगी। आपके साथ, मैं सहस्र वर्ष भी वनमें रह सकती हूँ। मुझे केवल आपकी चरण-छाया चाहिये। प्रियतम! आपका स्नेह पाकर वनके सभी दोष मेरे लिये गुणरूप हो जायँगे।'

सीताजी कहने लगीं—'आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्यके अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं। पुरुषप्रवर! केवल पत्नी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है। आपके साथ ही मुझे भी वनमें रहनेकी आज्ञा मिल गयी है।'

वनके कष्टोंका वर्णन करते हुए प्रभु श्रीरामने सुरक्षा एवं सुविधाकी दृष्टिसे सीताजीको वहाँ चलनेको मना किया—हे हंसगमनी! तुम वनके योग्य नहीं हो—

हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।

(रा०च०मा० २। ६३। ५)

देवि! दुराग्रह मत करो। तुम्हारा सुकुमार श्रीअंग वनके कष्टोंको सहनेयोग्य नहीं है। तुम अयोध्यामें अथवा पितृ-गृह, जहाँ जब मन लगे रहना। किसी प्रकार विपत्तिके ये दिन व्यतीत कर लेने दो।

श्रीसीताजी कहने लगीं—'मेरे प्रभो! आपके अनुगमनसे परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। आपके साथ सदैव मेरा संयोग बना रहेगा। यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे यह पवित्र श्रुति सुनी है कि इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी पत्नी होती है। मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और पतिव्रता हूँ, फिर क्या कारण है कि आप मुझे अपने साथ ले चलना नहीं चाहते हैं?'

श्रीसीताजीने हिचकियाँ लेते हुए किसी प्रकार कहा—'आप किस बातसे भयभीत हैं? क्या आपकी इसमें तेजस्विता है कि मुझ असहाया, एकाकिनीको इस प्रकार आतंकित करके छोड़ जायँ? हे प्राणनाथ! आपके बिना जगत्‌में मुझे कुछ भी सुखदायी नहीं है। हे नाथ! जैसे बिना जीवके देह और बिना जलके नदी, वैसे ही बिना पुरुषके स्त्री है—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

(रा०च०मा० २।६५।६-७)

सावित्री अपने मृत पति सत्यवान्‌के जीवनके पीछे लोकभयंकर यमराजका पीछा करती यमलोकके द्वारतक चली गयी थी, क्या मैं अपने सर्वसमर्थ स्वामीके साथ वनमें जानेयोग्य नहीं हूँ? तब आप आज वन किसी प्रकार नहीं जा सकते। आपको आज मेरी अन्त्येष्टि करके ही वन जाना है। आप मुझे त्याग रहे हैं तो वैदेही भी इस उपेक्षित शरीरको एक पल भी धारण नहीं करेगी, आपके श्रीचरणोंमें देह-त्याग करती हूँ।

ऐसा कहकर कटे वृक्षके समान श्रीवैदेही मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। प्रभुने अत्यन्त आतुरतापूर्वक उन्हें भुजाओंमें उठा लिया और कर्णके समीप मुख ले जाकर उच्चस्वरमें बोले—'देवि! साथ चलो।'

श्रीसीताजीने नेत्र खोला और उन्हें प्रभुके मन्द-मन्द स्वर सुनायी दिये—'तुम तो मेरे साथ वन जानेको ही बनी हो; मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। वनमें तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं सर्वथा समर्थ हूँ। तुम्हारे हार्दिक अभिप्रायको पूर्णरूपसे जाने बिना तुमको वनवासिनी बनाना उचित नहीं समझता था। सीते! इस समय तुम्हारे इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेपर तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मुझे अच्छा नहीं लगता है।'

सीताजी हर्षित होकर खड़ी हो गयीं। सास कौसल्याजीके श्रीचरणोंमें वन्दना करती हुई कहने लगीं—हे माता! मुझ अभागिनको आपकी सेवाके समय दैवने वनवास दे दिया—

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥

(रा०च०मा० २।६९।३-४)

उक्त प्रसंगसे जगज्जननी जानकीजी यह शिक्षा दे रही हैं कि केवल सुखमें ही नहीं; अपितु दुःख और विपत्तिमें भी पत्नीको पतिका साथ देना चाहिये। अर्धांगिनी होनेके कारण सीताजीने रामको मिली वनवासकी आज्ञाको अपने लिये बिना कहे ही स्वीकार कर लिया। यही भारतीय नारीका आदर्श है और भगवती सीता इसका प्रतिमान हैं।

नेक कमाईकी बरकत

(श्रीनारायणदासजी बाजोरिया)

आजसे अनेकों वर्ष पूर्व भारतवर्ष एक सच्चा तथा उन्नतिशील और सब देशोंका शिरोमणि देश था। इसमें बहुत-से वीर प्रजापालक राजा तथा ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण रहा करते थे, जो अपनी-अपनी विद्यामें पूर्ण निपुण तथा धर्मपालक थे। आज वैसे ही धर्मनिष्ठ ब्राह्मणकी तथा धर्मपालक राजाकी एक कहानी हम पाठकोंके सामने प्रकट करते हैं।

सन् १९२९ ई०में मैं शिमला गया था, वहाँ शान्तिकुटीमें ठहरा था। वहींपर शान्तिकुटीमें महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय भी पधारे थे। ईश्वरकी कृपासे मैं श्रीमालवीयजीकी बगलकी कोठीमें ही था और प्राय: उनके दर्शन करता था। एक दिन बात-ही-बातमें प्रसंग छिड़ गया। मैंने कहा कि 'यदि परम धनवान् डेल कारनेगीके समान धन होता तो समाजकी सेवा करनेका बहुत अच्छा सुअवसर प्राप्त होता, परंतु आजकल धन पैदा करना बड़ा ही कठिन कार्य है। धन पैदा हो सकता है, परंतु उसमें सत्यका त्याग तथा दया आदि सद्गुणोंकी तिलांजलि प्राय: मनुष्यको देनी ही पड़ती है।' पण्डितजी बोल उठे, 'नारायणदासजी! यह आपकी भूल है। आपको शायद सच्चे मार्गका ज्ञान नहीं है। नेकीद्वारा पैदा किया हुआ धन यदि एक पैसा भी हो तो वह लाख रुपयेसे भी ऊँचा महत्त्व रखता है।' उदाहरणार्थ उन्होंने मुझे एक बड़ी रोचक कहानी सुनायी, उसीको आज कल्याणके पाठकोंकी भेंट करता हूँ!

प्राचीन समयमें एक बहुत बड़ा धार्मिक, बलवान् तथा प्रजापालक राजा इस देशमें राज्य करता था। उसके पास ही वनमें एक अत्यन्त दरिद्र विद्वान् ब्राह्मण रहा करता था। वह अपनी जीविका किसी प्रकारसे चलाता था। गरीब होते हुए भी वह बड़ा ही ज्ञानी तथा बुद्धिमान् पुरुष था, वह वेदमार्गका अनुयायी और सर्वथा सच्चरित्र था। जिस प्रकार वेदमें ब्राह्मणोंको जीविका-उपार्जनके लिये लिखा है, उसी प्रकार वह जीविका-उपार्जन करता था। दिनभर ईश्वराराधनामें रहनेपर सन्ध्याको जो कुछ बिना माँगे मिल जाता था, वह उसीसे सपरिवार अपना निर्वाह करता था। उसके धर्मपत्नी तथा एक कन्या भी थी। येन-केन-प्रकारेण वह अपना जीवन चला रहा था। कुछ दिनोंमें लड़की ब्याहनेयोग्य हो गयी। एक दिन ब्राह्मण और ब्राह्मणी अपनी कन्याके विवाहके विषयमें बातचीत कर रहे थे। ब्राह्मणने अपनी धर्मपत्नीसे कहा कि 'विवाह तो होना चाहिये, परंतु धनका संग्रह कहाँसे करें?' ब्राह्मणीने कहा 'आपका यश चारों दिशाओंमें व्याप्त है, इसलिये आप जहाँ भी जाइयेगा, वहीं आपको पर्याप्त धन मिल जायगा।' ब्राह्मण पत्नीकी सम्मतिके अनुसार राजाके पास गया। द्वारपालोंने जाकर राजाको समाचार दिया कि एक दरिद्र ब्राह्मण आपको दर्शन देने आया है। राजा द्वारपालसे उन महामना ब्राह्मणका नाम सुनकर स्वयं द्वारपर गया और अपने साथ उन्हें भीतर लाकर अपने निकट सिंहासनपर बैठाया एवं कुशलक्षेम पूछी। तदुपरान्त राजाने कहा 'महाराज! आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

ब्राह्मण बोले—'मैं भिक्षाके लिये आपके पास आया हूँ।' राजाने कहा 'जो आज्ञा' और अपने कोषाध्यक्षको बुलाकर आज्ञा दी कि अभी दस सहस्र मुद्रा लाकर महाराजको भेंट करो। ब्राह्मणने कहा 'यह क्या दे रहे हैं, यह तो बहुत थोड़ा है।' राजाने फिर अपने कोषाध्यक्षको आज्ञा दी कि 'बीस हजार स्वर्णमुद्रा भेंट दो।' ब्राह्मणने कहा कि 'यह भी थोड़ा है।' राजाने इसी तरह बढ़ाते-बढ़ाते अन्तमें कहा कि 'मैं अपना सर्वस्व आपको देता हूँ तथा आपका दास बनता हूँ।' यह सुनकर ब्राह्मणने फिर कहा 'यह भी अल्प है।' इतनेपर भी सन्तुष्ट न होनेपर राजाने कहा 'तो मैं अब आपको क्या अर्पण करूँ?' ब्राह्मणने कहा, 'राजन्! आजतक

आपने निष्कपट पापरहित और परहितकी इच्छासे स्वयं सच्चा परिश्रम करके जो कुछ कमाया हो, वही मुझे दीजिये।'

राजाने सोचकर कहा, 'अच्छी बात, मैं आपको वही दूँगा, आप कृपया कलतक ठहरिये।'

अपनी प्रजाके सुख-दु:खका हाल जानने और सच्ची कमाईका पैसा लानेके लिये राजा रातके दस बजे उठा और अपनी पोशाक बदलकर शहरमें घूमने निकला। शहरमें देखा कि सब लोग चैनकी नींद सो रहे हैं, परंतु एक लोहारने अपना काम अभी जारी कर रखा है, उसे देखकर राजाने विचारा कि अवश्य ही इसको कुछ आर्थिक कष्ट है, यहाँ काम करके कुछ कमाना अच्छा है। फिर निकट जाकर उससे प्रार्थना की कि 'ऐ भाई! मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, अगर कोई काम तुम्हारे पास हो तो तुम दे दो।' लोहारने कहा, 'भाई! मेरे पास और तो कोई ज्यादा काम नहीं है, यह थोड़ा-सा काम है, इसे सुबहतक कर दोगे तो मैं तुम्हें चार पैसे दूँगा।' राजाने कहा 'ठीक है।' इसके बाद राजा तो बड़ी लगनसे लोहारका बतलाया हुआ काम करने लगे और लोहार अपने घर चला गया। प्रात:कालतक राजाने लोहारद्वारा बतलाया हुआ काम तो समाप्त कर ही दिया था, उसके सिवा और भी उसके एक-दो काम कर दिये थे। लोहार आया और राजाके कामको देख बहुत प्रसन्न हुआ और राजाको उसकी मेहनतके लिये चार पैसे न देकर पाँच पैसे देने लगा और बोला 'भाई! अगर तुम इसी तरह रोज आकर मेरा काम कर दिया करोगे तो रोज सुबह मैं तुम्हें पाँच पैसे दिया करूँगा।' राजा बोला, 'नहीं भाई! मुझसे तूने चार पैसे ठीक किये थे, इसलिये मैं चार ही पैसे लूँगा। ज्यादा नहीं।' तदनुसार राजा चार पैसे लेकर चला आया। दूसरे दिन सदाकी भाँति दरबार हुआ और ब्राह्मणदेवता भी पधारे। उन्हें देखकर राजाने प्रणाम किया और अपनी सच्ची कमाईके चार पैसे उनको भेंटस्वरूप दिये। ब्राह्मणदेवताने भी पैसोंको सहर्ष स्वीकार किया और प्रसन्नचित्त होकर वे घर लौट आये। घर आनेपर ब्राह्मणीने प्रश्न किया कि राजासे भिक्षामें क्या लाये? ब्राह्मणदेवताने उत्तर दिया कि चार पैसे लाया हूँ। इसपर ब्राह्मणी झुँझलायी और उसने ब्राह्मणके हाथसे पैसे छीनकर आँगनमें फेंक दिये और जाकर क्रोधित-चित्तसे सो गयी। प्रात:काल उठकर आँगनमें देखते हैं तो मालूम हुआ कि चार पैसोंके स्थानमें चार वृक्ष उत्पन्न हो गये हैं, जिनकी पत्तियाँ बिल्कुल सोनेकी हैं और फल-फूलोंके स्थानमें जगमगाते हुए हीरे और जवाहिरात लगे हैं। इस विचित्र घटनाको देखकर ब्राह्मणीकी खुशीका ठिकाना न रहा। बादमें ब्राह्मणीने देखा कि इसमें तो प्रतिदिन उसी प्रकारसे फल-फूल लगते हैं, तब तो उसका आनन्द और भी बढ़ गया। इसके बाद ब्राह्मण और ब्राह्मणीने अपनी कन्याका विवाह बड़े ही समारोहके साथ किया। विवाहके बाद भी ब्राह्मणके पास बहुत धन रह गया, जिसको वह प्रतिदिन दान देता था और जितना देता था, उतना ही धन भी उसके पास बढ़ता जाता था। उसकी कीर्ति चारों तरफ फैल गयी। राजासे भी लोगोंने जाकर कहा कि 'महाराज! जो ब्राह्मण आपसे राज्य भी लेनेकी इच्छा नहीं करता था, वह धनके लोभमें पड़ गया।' राजाने भी गुप्त दूतद्वारा पता लगाया तो मालूम हुआ कि बात ठीक है, ब्राह्मणके पास अतुल सम्पत्ति है। दूसरे दिन राजाने ब्राह्मणके पास जाकर उनसे पूछा कि 'महात्मन्! इतना धन कैसे प्राप्त हुआ?' ब्राह्मणने उत्तर दिया 'महाराज! आपहीने तो दिया था।' अन्तमें ब्राह्मणने राजाको सब हाल बताया। राजाको विश्वास न हुआ। अन्तमें उन्होंने पेड़ उखाड़े तो उनकी जड़में वे चार पैसे ही मिले। सारांश यह कि नेक कमाईके पैसेकी बरकत तथा वृद्धि यद्यपि पहले धीरे-धीरे होती है, किंतु पीछे तो अत्यन्त ही अधिक हो जाती है और वह मनुष्यको सब प्रकारसे सुखी और सम्पन्न कर देती है।

संत-स्मरण

(परम पूज्य देवाचार्य श्रीराजेन्द्रदासजी महाराजके गीताभवन, ऋषिकेशमें हुए प्रवचनसे साभार)

❀ वृन्दावनमें राजवंशीजी महाराज बताते थे कि विद्यार्थी जीवनमें वे काशीमें महाशयजीके यहाँ विद्याध्ययनहेतु जाते थे। एक दिन वहाँ गये और कमरेमें झाड़ू लगाने लगे। गुरुजीने कहा कि आज सफाई तो हो चुकी है। उन्होंने फिर भी झाड़ू लगाकर पुनः सफाई की। फिर कूड़ा निकला, जिसे देखकर गुरुजी चकित हुए और आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा घर ब्राह्मणोंकी चरणरजसे निरन्तर भरा रहेगा। यह आशीर्वाद सत्य हुआ। राजवंशीजी महाराजके यहाँ प्रातःकालसे सायंकालतक अध्ययनहेतु विद्यार्थियोंका आवागमन लगा ही रहता था। गुरुजीने यह भी उपदेश दिया कि भीतरकी कितनी भी सफाई करो, कूड़ा-कचरा निकलता ही रहेगा। इसलिये सत्संगकी झाड़ू बराबर लगती रहनी चाहिये।

❀ वृन्दावनके संत श्यामानन्दजीके जीवनकी घटना है। प्रारम्भमें उन्हें आदेश हुआ—सेवाकुंजमें झाड़ू लगाओ, महामन्त्र जपो और सत्संग करो। वे प्रातःकालसे ही मनोयोगपूर्वक झाड़ू-सेवामें लगे रहते। एक दिन उन्हें सेवाकुंजमें एक सोनेका नूपुर दीखा, जिसे गमछेमें बाँधकर उन्होंने सिरपर लपेट लिया। श्रीकिशोरीजी जब कुंजलीलासे लौटीं तब सखियोंने पैरमें एक ही नूपुर देखकर पूछा। श्रीकिशोरीजीने कहा वहीं गिरा होगा। ललिताजी एक बुढ़ियाका रूप बनाकर वहाँ गयीं और श्यामानन्दको झाड़ू लगाते देखकर बोलीं—मेरी बहूका नूपुर यहाँ गिर गया है। तुम्हें मिला हो तो मुझे दे दो। श्यामानन्दजी बोले कि एक नूपुर तो मिला है, लेकिन अपनी बहूको बुलाओ। उसके दूसरे नूपुरसे मिलान कराकर ही मिलेगा। अन्य उपाय न देखकर ललिताजी श्रीकिशोरीजीको लेकर वापस आयीं। श्यामानन्दने दूसरे पैरका नूपुर देखकर माना कि नूपुर उन्हींका है और स्वयं अपने हाथसे पैरमें पहनानेकी आज्ञा माँगकर श्रीकिशोरीजीको नूपुर धारण करा दिया। इसी प्रक्रियामें उनके ललाटपर एक श्याम-बिन्दु बन गया।

सेवा-सत्संगका ऐसा सुफल पाकर श्यामानन्द निहाल हो गये। गुरु श्रीहृदयानन्ददासने पूछा कि यह सम्प्रदायसे भिन्न तिलक क्यों लगा रखा है? श्यामानन्दजीने पूरी घटना निवेदित की, किंतु किसीको विश्वास नहीं हुआ। तब सुबल सखाने पेड़की ओट लेकर गवाही दी कि श्यामानन्दकी बात सत्य है। फिर भी सन्त-समाजके दिये दण्डको श्यामानन्दने स्वीकार किया और आजतक उस परम्पराको अक्षुण्ण रखते हुए सेवाकुंजमें कार्तिक शुक्ल एकादशीसे पूर्णिमातक दण्ड-महोत्सवका आयोजन किया जाता है।

❀ वृन्दावनमें श्यामासखीजीके नामसे प्रसिद्ध संत हुए। वे जब शरणागत हुए तब गुरुने उन्हें बर्तन माँजने और चौका साफ करनेकी सेवा सौंपी। वे बड़े मनोयोगसे सेवामें तल्लीन रहते। एक दिन मध्याह्नमें जब वे चौकेमें पोंछा लगा रहे थे, उसी समय रसोईघरसे श्रीराधारानी और पीछे-पीछे श्रीनन्दकिशोर छम-छम करते हुए निकलकर चले गये। इस दृश्यको देखकर उनके हाथमें जो रसोईमें पोंछा लगानेका गीला कपड़ा था, वह उनके गालपर जा लगा और वे भाव-समाधिमें लीन हो गये। गुरुजीने जब उनकी यह अवस्था देखी तब उन्हें जाग्रत् किया। उन्हें देह-धारणकी सार्थकता प्राप्त हो गयी। वे गोपीभावको प्राप्त हुए।

❀ बड़ौदाके एक कबीरपंथी संत सम्पूर्णानन्दजी महाराजके पास आकर अपना दुःख कहने लगे। उन्हें उनके गुरुजीने मठकी जिम्मेदारी अपने जीवनकालमें दे दी थी, जिसका वे निर्वाह कर रहे थे। इस बीच किसीने लोभवश वसीयतसम्बन्धी मुकदमा दायर कर दिया, जो उनकी चिन्ताका कारण था। उनकी उम्र लगभग ५० साल थी। महाराजजीने उनकी सारी बात ध्यानपूर्वक सुनी और कहा कि जिसे ५० साल बाद छोड़ना ही है, उसे क्यों पकड़ना? यह तो भगवत्कृपा हुई, जो तुम इस प्रपंचसे सहज छूट रहे हो—***चारों दिशा जगीरीमें***। वे लोग चाहें तो वहाँ रहना, नहीं तो धरतीपर साधुके लिये जगहकी कमी नहीं। उनको बात लग गयी। कचहरीमें सुनवाईके दिन वकीलोंकी सलाहके विरुद्ध जजसे कह दिया कि यदि गुरुजीने इनको वसीयत करी है तो ये सँभालें, इनकी इच्छा होगी तो हम रहेंगे, नहीं चले जायँगे। जजको उनके हाव-भावमें सच्चाई दीखी और वसीयत-प्रकरणको जाली समझकर लोभियोंको फटकार लगायी। उन लोगोंने गलती मानी और प्रकरण निरस्त हुआ। वे संत अभीतक उस मठका संचालन कर रहे हैं। सच्चाईकी चमक निष्कामतामें दमकती है।—**'प्रेम'**

प्रलोभनके आगे न झुकिये

(डॉ० श्रीरामचरणमहेन्द्रजी, एम०ए०, पी-एच०डी०)

प्रलोभन एक ऐसा आकर्षक मोहचक्र है, जिसका कोई स्वरूप, आकार, स्थिति, अवस्था नियत नहीं है, किंतु फिर भी वह नाना रूपोंमें मानवमात्रको ठगने, पदच्युतकर पथभ्रष्ट कर देनेके लिये आता है। जीवनमें आनेवाले बहुत-से मायावी प्रलोभन इतने मनोमोहक, लुभावने और मादक होते हैं कि क्षणभरके लिये विवेकशून्य हो अदूरदर्शी बन हम विक्षिप्त-से हो उठते हैं। हमारी चिन्तनशील सत्प्रवृत्तियाँ पंगु हो उठती हैं तथा हम विषय-वासना, आर्थिक लोभ, स्वार्थ, संकुचिततावश प्रलोभनके शिकार बन जाते हैं। अन्ततः उनसे उत्पन्न होनेवाली हानियों, कष्टों, त्रुटियों, अपमान तथा अप्रतिष्ठासे दग्ध होते रहते हैं। प्रलोभन जीवनकी मृगतृष्णा है, तो बुद्धिका भ्रम मोहका मधुर रूप!

लालचके रूप अनेक हैं। कभी आप सोचते हैं, 'मैं धनवान् बनूँ, ऊँचा रहूँ, मेरे ऊपर लक्ष्मीकी कृपा रहे।' इस उद्देश्य-सिद्धिके हेतु आप रिश्वत, कालाबाजार, झूठ, फरेब, कपट, हिंसा करके रुपये हड़पते हैं। ठेकेदार, ओवरसियर, इंजीनियरतक रिश्वतमें हिस्सा लेते हैं। रेलवे, पुलिस, चुंगी इत्यादि विभागोंमें भ्रष्टाचार इसी स्वार्थ और संकुचितताके कारण फैले हुए हैं। डॉक्टर और वकील रोगी और मवक्किलोंसे अधिकाधिक ऐंठना चाहते हैं। बाजारमें खराब माल देकर अथवा निम्नकोटिकी वस्तुओंका सम्मिश्रणकर व्यापारी खूब लाभ कमाना चाहते हैं। सिक्केने जैसे मानवीयताका शोषण कर लिया हो। प्रलोभनके अनेक रूप हैं—

अमुक व्यक्तिकी पत्नी मेरी पत्नीकी अपेक्षा सुन्दर है। मुझे सुन्दर पत्नी प्राप्त होनी चाहिये। मैं तो अमुक अभिनेत्री-जैसी स्त्रीसे विवाह करूँगा।

अमुक व्यक्तिका मकान सुन्दर है। अमुकके पास आलीशान कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, सुन्दर वस्त्र, फरनीचर इत्यादि हैं। मैं भी किसी प्रकार उचित-अनुचित कैसे ही उपायोंसे ये वस्तुएँ-सुविधाएँ प्राप्त करूँ। अमुक मुझसे ऊँचे पदपर आसीन हो गया, मैं भी छल-बल-कौशलसे या रुपया दे-दिलाकर यही पद प्राप्त करूँ।

अमुक व्यक्ति बड़ा सुस्वादु भोजन खाता है; मिठाई, पूड़ी, पकवान, मेवे, दूध, रबड़ी आदि बढ़िया-से-बढ़िया वस्तुएँ नित्य चखता है। मैं भी किसी अच्छे-बुरे उपायसे ये चीजें प्राप्त करूँ। ऐसा सोचते-सोचते जैसे ही कोई तनिक-सा प्रलोभन आपको देता है कि आप बिना सोचे-समझे उसके समक्ष घुटने टेक देते हैं। रुपया, कमीशन, डाली, फल, मुफ्त सेवा, नाना उपहार ले लेना—सब प्रलोभनके ही स्वरूप हैं। इनका कोई आदि-अन्त नहीं। समुद्रकी तरंगोंकी भाँति आते ही रहते हैं ये।

नैतिक दृष्टिसे कमजोर चरित्रवाले व्यक्ति आसानीसे प्रलोभनके शिकार बनते हैं। जिनकी आवश्यकताएँ, विलासी इच्छाएँ, चटोरपन, अनुचित माँगें, नशे बढ़े हुए हैं, वे प्रायः प्रलोभनोंके सामने झुकते हुए देखे गये हैं। जिन्हें दान-दहेज, यात्राएँ, भौतिकता, टीपटापका शौक है, वे लालचमें फँसते हैं। कभी-कभी सहज सात्त्विक बुद्धिवाले भी दूषित वातावरणके प्रभावसे प्रलोभनोंके चक्करमें आ जाते हैं।

विषयोंमें रमणीयताका भास बुद्धिके विपर्ययसे होता है। बुद्धिके विपर्ययमें अज्ञान-सम्भूत अविद्या प्रधान कारण है। इस अविद्या, क्षणिक भावावेश, अदूरदर्शिताके ही कारण हमें प्रलोभनमें रमणीयताका मिथ्या बोध होता है। प्रलोभनसे तृप्ति एक प्रकारकी मृगतृष्णामात्र है।

प्रलोभनमें मुख्यतः दो तत्त्व कार्य करते हैं—उत्सुकता एवं दूरी। ईसाइयोंके मतानुसार आदिपुरुष एडम (आदम)-का स्वर्गसे पतन ज्ञानवृक्षके फलको चखनेकी उत्सुकताके ही कारण हुआ था। उन्हें आदेश मिला था कि वे अन्य सब वृक्षोंके फलोंको चख सकते हैं, केवल उसी वृक्षसे बचते रहें। जिस बातके लिये हमें रोका जाता है, अप्रत्यक्ष रूपसे उसके प्रति हम अधिकाधिक आकृष्ट होते हैं। अतः एडमको वर्जित फलके प्रति उत्सुकता उत्पन्न हो गयी। औत्सुक्यसे प्रभावित होनेके कारण उस फलमें रमणीयताका भास हुआ। उन्होंने चुपचाप प्रलोभनके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया, पर

ईश्वरने उन्हें इसकी बड़ी कड़ी सजा दी।

जो पदार्थ, इन्द्रियोंको तृप्त करनेके नाना साधन हमसे दूर रहते हैं, जिन्हें हम दैनिक जीवनमें नहीं पाते, जिनका स्वाद हमने नहीं उठाया है, वे ही दूरीके कारण हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं। वास्तवमें रमणीयता किसी बाह्य जगत्की वस्तुमें नहीं है। वह तो हमारी कल्पना तथा उत्सुकताकी भावनाओंकी प्रतिच्छायामात्र है। वस्तुको आकर्षक बनानेवाला हमारा मन है, जो क्षण-क्षण नाना वस्तुओंपर मचल-मचलकर जाता है, नयी वस्तुकी ओर हमें बरबस खींचकर ले जाता है। कभी वह जिह्वाको उत्तेजितकर हमें सुस्वादु वस्तुओंकी ओर आकृष्ट करता है, कहीं कानोंको मधुर संगीत सुननेके लिये खींचता है। कहीं हमारी वासनाको उद्दीप्तकर मादक वृत्तियोंको उत्तेजित कर देता है। मनकी कोई भी गुप्त अतृप्त इच्छा प्रलोभनका रूप धारण कर लेती है। विवेकका नियन्त्रण ढीला पड़ते ही मन हमें स्थान-स्थानपर बहकाता फिरता है अथवा विवेकपर आवरण (पर्दा, तमोवृत्ति, इन्द्रियदोष, बीमारी, प्रमाद) पड़ा रहनेसे बुद्धि तिरोहित हो जाती है। फलत: हम पतनकी ओर जाते हैं। हमारा वातावरण गन्दा हो जाता है, हम दूसरोंको धोखा देते हैं, झूठ बोलते, ठगते हैं। विवेकपर पर्दा पड़ा रहनेसे ही दुष्ट पुरुष विद्याको विवादमें, धनको अहंकार और विलासमें, बलको परपीडामें लगाते हैं, निर्बलोंको सताते हैं। अत: मनपर सतर्कतासे अन्तर्दृष्टि रखनी चाहिये।

जैसे युद्ध करते समय जागरूक संतरीको यह ध्यान रखना पड़ता है कि न जाने शत्रुका कब आक्रमण हो जाय, कब किस रूपमें शत्रु प्रकट हो जाय, उसी प्रकार मनरूपी चंचल शत्रुपर तीव्र दृष्टि और विवेकको जागरूक रखनेकी अतीव आवश्यकता है। जहाँ मन आपको किसी इन्द्रिय-सम्बन्धी प्रलोभनकी ओर खींचे, वहीं उसके विपरीत कार्यकर उसकी दुष्टताको रोक देना चाहिये।

न जीता हुआ स्वेच्छाचारी मन बड़ा बलवान् शत्रु है। वासना और कुविचारका जादू इसपर बड़ी शीघ्रतासे होता है। बड़े-बड़े संयमी व्यक्ति वासनाके चक्रमें आकर मनको न रोक सकनेके कारण पथभ्रष्ट हो जाते हैं। मनसे युद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कृत्य है। इससे युद्ध-कालमें एक विचित्रता है। यदि युद्ध करनेवाला दृढ़तासे युद्धमें संलग्न रहे, निज इच्छाशक्तिको—मनको व्यापारोंमें लगाये रहे तो युद्धमें संलग्न सैनिककी शक्ति अधिकाधिक बढ़ती है और एक दिन वह इसपर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। यदि तनिक भी इसकी चंचलतामें बहक गये तो यह मनुष्यके चरित्र, आदर्श संयम, नैतिक दृढ़ता और धर्म-भावनाको तोड़-फोड़कर सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है।

मनको दृढ़ निश्चयपर स्थिर रखने और उसीपर एकाग्र ध्यान रखनेसे मुमुक्षुकी इच्छाशक्ति प्रबल बनती है। मनका स्वभाव मनुष्यकी इच्छाशक्तिके अनुकूल बन जानेका है। उसे जिन विषयोंकी ओर दृढ़तासे एकाग्र कीजिये, वही कार्य करने लगेगा। वह व्यर्थ निश्चेष्ट-निष्क्रिय नहीं बैठना चाहता। अच्छाई या बुराई—वह किसी-न-किसी ओर अवश्य आकृष्ट होगा। यदि आप शुभ रचनात्मक समुन्नत कार्योंमें उसे न लगायेंगे तो वह बुराईकी ओर चलेगा। यदि आप उसे पुष्प-पुष्पपर विचरण करनेवाली मधु-लोभी तितली बना देंगे—जो रूप, रस और गन्धपर मँडराये—तो वह अवश्य आपको किसी भयंकर स्थितिमें डाल देगा। यदि आप उसे उद्दण्ड रखेंगे तो वह दिन-रात मनमाने बुरे स्थानोंपर भटकता रहेगा। यदि आप शुभ इष्ट-पदार्थोंके सुविचारोंमें उसे स्थिर रखेंगे तो वह आपका सबसे बड़ा मित्र बन जायगा।

जब-जब अपने अन्त:करणमें विषय-वासनाका प्रबल संघर्ष उत्पन्न हो, तब-तब नीर-क्षीर-विवेकी निश्चयात्मिका बुद्धिको जाग्रत् कीजिये। मनसे थोड़ी देर पृथक् रहकर इसके कार्य-व्यापारोंपर तीव्र दृष्टि रखिये। बस, कुविचार, कुत्सित चिन्तन, वासनाका ताण्डव, कुकल्पनाका चक्र टूट जायगा और आप मनके साथ चलायमान न होंगे। मनके व्यापारके साथ निज आत्माकी समस्वरता न होने दें। इसी अभ्यासद्वारा वह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञाकारी अनुचर बन जायगा—

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल मन चौर।
मनके मत चलिये नहीं, पलक-पलक मन और॥

प्रमादमें फँसी इन्द्रियोंके सुखमें स्थिरता नहीं है। इन्द्रियसुख दु:खरूप है। यह अस्थिर और क्षणिक है। यह आनन्दका आवरणमात्र है। इन्द्रिय-सुखके लिये

लालसामें मनुष्य अधिकाधिक उलझता ही जाता है। एक इन्द्रियको तृप्त करते-करते मनुष्य दूसरी-तीसरी—यों अधिकाधिक सांसारिकतामें लिप्त होता ही जाता है। अन्तमें पापयोनिको प्राप्त होता है। जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा नियन्त्रण नहीं होता, तबतक सुखकी आशा रखना व्यर्थ है। मनपर निरन्तर कड़ी दृष्टि रखिये—स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजीने गीतामें हमें मनपर तीखी निगाह रखनेकी ओर निर्देश किया है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(६।३६)

'मनको संयमित न करनेवाले पुरुषके द्वारा योग दुष्प्राप्य है। स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषके द्वारा ही योग प्राप्त होता है—इष्टसिद्धि प्राप्त होती है।'

अभ्यास और वैराग्यसे मनको वशमें करनेमें बहुत सहायता मिलती है। गीतामें मनको ईश्वरमें एकाग्र करनेके लिये अभ्यास करनेका अमूल्य उपदेश दिया गया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६।२६)

'यह अस्थिर और चंचल मन जिस-जिस कारणसे संसारमें जाय, उस-उससे हटाकर इसे बार-बार आत्मामें लगाये।'

सुखरूप भासनेवाली विषय-वासनाके प्रलोभनमें कदापि न फँसिये। कुपथगामी मनके विपरीत चलिये। परमात्माका जो रूप आपको विशेष आकर्षक प्रतीत होता हो, उसीमें मन-बुद्धिको एकाग्र करनेका सतत अभ्यास करते रहिये। वैराग्य और शुभचिन्तनके अभ्याससे प्रलोभनसे मुक्ति मिल सकती है।

भारतीय संस्कृतिमें प्रलोभनसे बचे रहनेके लिये दान और त्यागका विधान है। भारतीय, यदि वह सच्चे अर्थोंमें भारतीय संस्कृतिका पुजारी है, तो वस्तुओं, धन, ज्ञान, श्रमशक्ति इत्यादिको एकत्र न कर सबके भलेके लिये अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंमें उसे वितरित करनेका प्रयत्न करता है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र अपनी रश्मियोंको संसारके कोने-कोनेमें फैलाकर प्रकाश करते हैं, सच्चा भारतीय वैसे ही अधिक-से-अधिक दान देता है—शक्तिका, सेवाका, अपने श्रम-सामर्थ्य और सम्पत्तिका त्याग करनेसे उसका आत्मसंयम बढ़ता है। शरीर और मनपर काबू होता है, वासनाएँ शान्त रहती हैं, आत्मा भौतिक पदार्थोंके चिन्तनसे मुक्त होकर अन्तर्मुखी बनती है। क्षुद्र बाह्य पदार्थों तथा रूपोंसे आसक्ति हटते ही उसे आत्मानुभव होने लगता है। वह जान लेता है कि मैं हाड़, मांस, वासना, तृष्णा, मोह नहीं हूँ, मैं तो सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, विशुद्ध आत्मा हूँ।

रुपया मिला और भजन छूटा

एक धनवान् सेठकी कोठीके नीचे ही एक मोची बैठा करता था। वह जूते बनाता जाता था और भजन गाता जाता था। सेठ उदार थे, धर्मात्मा थे, भगवद्भक्त थे। वैसे तो अपने कार्य-व्यापारमें व्यस्त होनेके कारण मोचीकी ओर उनका ध्यान काहेको जाता; किंतु वे एक बार बीमार पड़ गये। रोग-शय्यापर पड़े-पड़े मोचीके द्वारा गाये जाते भजन उन्हें बड़े प्रिय लगे। उन भजनोंको सुनकर मन भगवान्‌में लगा रहा। चित्त शरीरके रोगका चिन्तन न करके दूसरी ओर लगा रहे तो रोगके कष्टका बोध ही नहीं होता। सेठजीको भी मोचीके भजनोंके कारण कष्ट नहीं हुआ। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने मोचीको बुलवाया और उसे पचास रुपये दिये।

रुपये लेकर मोची गया और उसका भजन गाना बन्द हो गया। दूसरे दिन सबेरे वह मोची स्वयं सेठजीके पास पहुँचा। सेठजीने पूछा—'तुमने भजन गाना क्यों बन्द कर दिया?'

मोची बोला—'इसीलिये तो मैं आपके पास आया हूँ। कृपा करके अपने ये रुपये ले लीजिये। रुपये मिले और भजन छूटा। मैं इन्हें सम्हालकर रखने तथा यह सोचनेमें व्यस्त हो गया कि इनका कैसे उपयोग करूँगा। रात्रिमें इनकी चिन्ताके मारे नींद भी ठीक नहीं आयी। मैं परिश्रम करके जो पाता हूँ, वही मेरे लिये बहुत है।'

संत-वचनामृत

(वृन्दावनके गोलोकवासी सन्त पूज्य श्रीगणेशदासजी भक्तमालीके उपदेशपरक पत्रोंसे)

❀ इस संसारमें अपने ही प्रारब्धके अनुसार सुख-दु:ख प्राप्त होते हैं, परंतु भगवान्‌का अनन्य भक्त सुख-दु:खमें अपने इष्टदेवकी कृपाका अनुभव करता है। हानि-लाभमें दूसरोंको कारण मानकर उनसे राग-द्वेष नहीं करता है। जिसने आत्म-समर्पण किया है, उसे निश्चिन्त रहना चाहिये। प्रभु जैसे रखें, उसी प्रकार रहकर सर्वेश्वरको धन्यवाद देना चाहिये।

❀ भक्तिका विशेषण है शुभदा। सब प्रकारके लौकिक-पारलौकिक मंगल-कल्याण, सुख-शान्तिकी प्राप्ति भक्तिसे होती है। स्वयं कल्याणमय बनकर भक्त दूसरोंका कल्याण करता है। मोक्षपर्यन्त सुखकी कामना भक्त नहीं करता है। प्रभु जैसे रखना चाहें, वैसे रहनेके लिये तैयार रहता है। प्रभुकी इच्छा और प्रसन्नतामें भक्त प्रसन्न रहता है, उसीमें अपना कल्याण मानता है। उसकी इच्छा वही रहती है कि हमको निरन्तर भगवत्-सेवा स्मृति सुख मिले।

❀ भक्तिका विशेषण है श्रीकृष्णाकर्षिणी। भक्ति श्रीकृष्णको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली है। नीच-से-नीच मनुष्यमें यदि भक्ति आ जाय तो भक्तिके सूत्रमें बँधे भगवान् उसके घरमें भी पहुँच जाते हैं। भक्तिसे खिंचनेके कारण ही पीछे-पीछे डोलते हैं। सदनका जन्म कसाईके घरमें हुआ। मांसका व्यापार करता था। भगवान् शालग्रामरूपसे स्वयं आकृष्ट होकर तौलनेका बाँट बन गये। जनकपुरमें रहनेवाले श्रुतदेव ब्राह्मण और राजा बहुलाश्वने भगवान्‌को बुलानेके लिये पत्र नहीं लिखा था। भक्तिका निष्काम भावसे आचरण करते थे, अत: भगवान् बहुतसे ऋषियोंको साथ लेकर एक साथ दोनोंके घर गये। उनका आतिथ्य-सत्संग स्वीकारकर अपने दर्शन और उपदेशोंसे उन्हें कृतकृत्य किया। ऋषियोंकी स्वागत-सामग्री रखी रह गयी। वे प्रतीक्षा करते रह गये, परंतु भगवान् सब भाँति दीन-हीन-मलीन शबरीके यहाँ गये। पूछ-पूछकर गये। जो भी कोई वनवासी भील या सन्त मिलते, उनसे सबसे प्रभु पूछते—शबरीका आश्रम कहाँ है? उस भाग्यशालिनीके दर्शनोंके लिये मेरे नेत्र प्यासे हैं। रामदर्शनकी लालसा, उत्साह, उत्कण्ठा जैसी शबरीमें थी, वैसे ही श्रीरामजीमें थी। उससे मिलकर भगवान्‌ने कहा—'वनमार्गमें चलनेसे जो श्रम हुआ, वह आज शबरीके दर्शनसे दूर हुआ। जिसका वर्णन नहीं हो सकता, ऐसे परमानन्दका अनुभव हुआ। जयति रघुवंशतिलक:।

❀ एक गृहस्थ कुम्हार भक्त थे। एक सन्तने उन्हें नाम दिया, वे भजन करने लगे। सीधे सरल चित्तमें भक्ति प्रकट हो गयी। अपने घरका काम करते हुए भजन करते हुए वे सिद्ध हो गये, पर उन्हें पता नहीं कि मुझमें कुछ प्रभाव है। उनके समीप जो भी कोई जिस कामनासे आता, उसकी कामना पूर्ण हो जाती, उसका कष्ट मिट जाता। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि हो गयी। गाँवके राजाने सुना तो वह फल-फूल लेकर आया। दर्शनकर भेंट देकर उनके समीप बैठा। राजाने पूछा—'भक्तिकी क्या महिमा है? भक्त कुम्हारने कहा—'राजन्! मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, अत: शास्त्रोंका मुझे ज्ञान नहीं है, पर मैं अपने प्रत्यक्ष अनुभवकी बात बतलाता हूँ। मैं मिट्टीके बर्तन बनाता हूँ, मेरी स्त्री और बच्चे भी इसी काममें लगे रहते हैं। मिट्टीमें मिलानेके लिये घोड़ेकी लीदकी जरूरत पड़ती है। घोड़ेकी लीदसे खाद भी नहीं बनती है, सुखाकर उसे जलानेके काममें भी नहीं लिया जाता है। आपके यहाँ बहुतसे घोड़े हैं, ढेरों लीद पड़ी रहती है। मेरे स्त्री-बच्चे उसे उठाने जाते हैं तो आपके नौकर उनको गाली देते हैं, कभी-कभी बच्चोंको मारते हैं, इतनेपर भी हमारे स्त्री-बच्चे लीद लेने जाते हैं, मार-गाली सहकर लाते हैं; क्योंकि उसके बिना काम नहीं चलता है। अब आप ही देखें कि तुच्छ वस्तुके लिये तिरस्कार सहना पड़ता है मेरे स्त्री-बच्चोंको; आप स्वयं राजा होकर मेरे घर आये, मुझ नीच तुच्छको प्रणाम करते हैं, भेंट दे रहे हैं ऐसा क्यों? विचारकर देखें तो यह भक्तिका प्रभाव है। उसके प्रभावसे नीच ऊँचा हो जाता है, वन्दनीय हो जाता है। मेरे स्त्री-पुत्र भक्त नहीं हैं तो उन्हें तुच्छ लीदके लिये नित्य तिरस्कार सहना पड़ता है। भक्त और अभक्तका अन्तर, आदर-अनादर इसीमें समझ लीजिये कि भक्ति की कितनी महिमा है! राजा बहुत प्रभावित हुआ। वस्तुत: शास्त्रोंके ज्ञानी भी तर्क और अविश्वासमें फँस जाते हैं। उन्हें सरल हृदय और भावुकता प्राप्त नहीं है, इसीसे उनमें सच्ची भक्तिका प्राकट्य नहीं होता।

['परमार्थ के पत्र-पुष्प' से साभार]

प्रेरणा-पथ—

लालसा और विश्राम

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

लालसामें बड़ी भारी सामर्थ्य है और विश्राममें बड़ी भारी सामर्थ्य है। ये दोनों बातें जीवनके लिये इतनी उपयोगी हैं कि कोई भी परिस्थिति इनकी तुलना नहीं कर सकती, समानता नहीं कर सकती। किसी भी परिस्थितिमें न उतना रस है और न उतनी सामर्थ्य है। जिस समय आपके जीवनमें कोई लालसा होती है, उस समय आपके जीवनमें अन्य कामनाएँ नहीं रह सकतीं। लालसाका पहला काम है कि कामनाओंको खा जाय और जब कामनाएँ नहीं रहतीं, तब परिस्थितिसे सम्बन्ध नहीं रहता। लालसाकी जागृति-मात्रसे परिस्थितिसे सम्बन्ध-विच्छेद! बताइये, इसमें कौन-सी पराधीनता है और किस परिस्थितिमें पराधीनता है? थोड़ी देरके लिये मान लीजिये कि हमें जिस जीवनकी लालसा है, या जिसकी लालसा है, वह हमें न भी प्राप्त हो, और कभी प्राप्त न हो, ऐसा भी यदि मान लें और लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे तो क्या उसमें कोई हानि होगी? कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि जिसका मिलन रस-रूप है, उसकी स्मृति कभी नीरस नहीं होती और स्मृतिमें कोई पराधीनता नहीं है। वस्तु मिलनेमें आप पराधीन हो सकते हैं, लेकिन किसीकी यादमें भी क्या कोई पराधीन हो सकता है? इसमें कोई भी पराधीन नहीं है। अगर आपको स्मृति प्रिय नहीं है और आप सोचें कि यह तो बड़ी वेदना देती है, हमें स्मृति नहीं चाहिये। तो भैया, स्मृतिमें तो कोई पराधीन नहीं है। दो ही बातें तो जीवनमें हो सकती हैं—या तो आप सबसे अलग हो जायँ, या किसी एक लालसामें आबद्ध हो जायँ। इसमें क्या कठिनाई है कि कोई एक ही लालसा जीवनमें हो अथवा कोई भी लालसा जीवनमें न हो? लेकिन कठिनाई यह है कि हम एक ओर तो यह सोचते हैं कि हमारे जीवनमें एक क्रान्ति हो, एक लालसा हो, एक जिज्ञासा हो और दूसरी ओर यह भी सोचते हैं कि जो कामनाएँ हैं, वे भी पूरी हो जायँ, यानी यह जो द्वन्द्वात्मक स्थिति है—'कामना-पूर्ति भी हो', 'लालसाकी जाग्रति भी हो' और 'विश्राम' भी मिले। तीनों बातें चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कामनाकी अपूर्तिका जो भय है, वह आपको-हमको क्षोभित कर देता है और क्षोभित होनेका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य प्राप्त थी, उसका तो सदुपयोग नहीं होता और जो सामर्थ्य प्राप्त होनेवाली थी, उसका विकास रुक जाता है, अर्थात् अप्राप्य प्राप्त नहीं होता और प्राप्तका सदुपयोग नहीं होता। जीवनकी यह दशा सबसे भयंकर दशा है और इसीसे बचना है, अन्य किसी दशासे नहीं बचना है।

जो भी सामर्थ्य आपको प्राप्त है, जो भी योग्यता आपको प्राप्त है, आप उसको परिस्थितिके अनुसार प्रयोग कीजिये, यदि सदुपयोग नहीं कर सकते हैं, तो उस सामर्थ्यको लेकर ही क्या करेंगे? आप कहेंगे कि हममें तो कोई सामर्थ्य है ही नहीं। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें कोई भी सामर्थ्य न हो। जिसको हम असमर्थता कहते हैं, वह आंशिक सामर्थ्यका ही नाम है, सामर्थ्यके अभावका नाम नहीं है। आंशिक सामर्थ्यके सदुपयोगसे आवश्यक सामर्थ्य अपने-आप आती है। जब आंशिक सामर्थ्यके सदुपयोगसे आवश्यक सामर्थ्य आती है तो फिर जीवनमें चिन्ता और भयका कौन-सा स्थान है। तो कहना होगा कि चिन्ता और भयका ही यह परिणाम होता है कि जो सामर्थ्य हमको प्राप्त है, उसका तो सदुपयोग नहीं कर पाते और अप्राप्त सामर्थ्यका चिन्तन करने लगते हैं। जैसे, कल्पना करो कि जो भोजन प्राप्त है, उसे तो हम पचा न पायें और अप्राप्त भोजनका चिन्तन करें कि यह और होता, यह और होता। इसीके दुष्परिणामस्वरूप अप्राप्तका चिन्तन और प्राप्तका दुरुपयोग होने लगता है और हमारा चित्त अशुद्ध हो जाता है। करना यह है कि प्राप्तका तो सदुपयोग हो और अप्राप्तके चिन्तनसे मुक्त रहें।

जब हम अप्राप्तके चिन्तनसे रहित रहेंगे, तब विश्राम मिलेगा और विश्रामसे या तो हमें आवश्यक सामर्थ्य मिल जायगी या जो मिलना चाहिये वह मिल जायगा, क्योंकि विश्राममात्रसे भी लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसी बात नहीं है कि श्रमसे ही लक्ष्यकी

प्राप्ति हो। श्रम तो प्राप्त सामर्थ्यके सदुपयोगके लिये अपेक्षित है, लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं है। जो सामर्थ्य हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें? जो वस्तु हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें? और जो योग्यता हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें? इसके लिये श्रम अपेक्षित है। लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है। अब आप सोचिये कि जब श्रमरहित जीवनसे हमें लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, तब भी हम लक्ष्यसे निराश रहें। इससे बढ़कर और असावधानी क्या हो सकती है? यह जो हम लोगोंको चिन्ता दिन-रात सताती रहती है कि यह नहीं हुआ और यह नहीं किया, और यह नहीं कर पाये, और यह करेंगे—यह चिन्ता केवल अपनेको शक्तिहीन बनानेमें हेतु है। इससे और कोई लाभ नहीं होता। इसलिये जैसी परिस्थिति आपके सामने है, उस परिस्थितिका हृदयसे आदर करो, भयभीत मत हो जाओ। यह सोचो कि यह परिस्थिति क्यों आयी, इस परिस्थितिका क्या कारण है?

हाँ, प्रतिकूल परिस्थितिका कारण है—विलास। कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति ऐसी नहीं होती, जिसके मूलमें विलास न हो। उदाहरणके रूपमें ले लीजिये कि मेरा पेट खराब हो गया। अगर खानेमें मेरी आसक्ति न हो, तो कभी पेट खराब नहीं होगा। और हम सोचते यह हैं कि भोजन करनेका जो सुख है, वह सुरक्षित बना रहे, सदैव सुरक्षित बना रहे। भूख हो या न हो; लेकिन भोजनका सुख सुरक्षित रहे। अब आप सोचिये कि क्या यही जीवन है? तब तो बड़ी गम्भीरतासे यह कहेंगे कि भाई, भूख लगती है, इसलिये भोजन करना पड़ता है। यदि भूख न लगे, तो भोजनकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भोजन होता है दस मिनटमें। उसके बाद तो आप कई घंटे बिना खाये रहते ही हैं। यदि भोजन करनेमें ही सुख था तो उसके बादमें छः घंटे आपको कैसे सुख रहा? मान लीजिये, आप दिन-रातमें-से एक घंटा खानेमें लगाते हैं, तो तेईस घंटे आप कैसे रहते हैं? आपको मानना ही पड़ेगा कि तेईस घंटेका समय बिना खाये निकलता है। क्या उसमें कोई जीवन नहीं है? उसी प्रकार हम प्रत्येक प्रवृत्तिके विषयमें देखें कि जितनी देर कोई प्रवृत्ति होती है, उससे अधिक समय तो विश्राममें ही जाता है, यानी निवृत्ति रहती है। तो सोचिये, निवृत्ति-कालमें जीवन है या नहीं? यदि निवृत्ति-कालमें जीवन है, तो आपको मानना ही पड़ेगा कि विश्राममें भी जीवन है, परंतु कितने दुःखकी बात है कि विश्राम हमारे लिये दुर्लभ हो गया।

सही श्रम न करें, विश्राम न करें और करें क्या? या तो चिन्ता करें या भयभीत रहें या गलत काम करें और फिर सोचें बड़ी-बड़ी बातें। आस्तिकवादी सोचें कि हमें प्रभुप्राप्ति नहीं हुई। भौतिकवादी सोचें कि हमको शान्ति नहीं मिली। अध्यात्मवादी सोचें कि हमें स्वरूपका बोध नहीं हुआ। यदि स्वरूपका बोध आपका जीवन है, चिर-शान्ति यदि आपका जीवन है और भगवत्प्राप्ति यदि आपका जीवन है तो फिर आप बताइये, परिस्थिति आपका जीवन कैसे हो सकती है? जब परिस्थिति आपका जीवन नहीं हो सकती तो चाहे जैसी परिस्थिति हो, उसके अनुसार जो करना है, उसे कर डालना है। इसके अतिरिक्त परिस्थितिका कोई महत्त्व नहीं है।

दुःख क्यों हो ?

स्वयंके हृदयमें ही आनन्दकन्द परमात्माकी अत्यन्त निकटताका सतत अनुभव करनेवाले भक्तोंका हृदय हमेशा सद्भावनासे लबालब भरा रहता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष तो अपने निन्दकमें भी नारायणके दर्शन करते हैं और शत्रुमें भी अपने दयानिधिका सांनिध्य अनुभव करते हैं।

इसीलिये उनके हृदयमें किसीके प्रति तनिक भी ईर्ष्या या दुश्मनी नहीं होती। किसीको थोड़ा-सा धन मिल जाय तो भी वह आनन्द और खुशीमें नाचने लगता है, फिर इन महापुरुषोंको तो साक्षात् लक्ष्मीनारायण ही मिल जाते हैं। भला इनको फिर दुःख क्यों हो?

संत-चरित—

परम तपस्वी श्रीशिवबाला योगीजी महाराज

(डॉ० श्रीउमेशचन्द्रजी जोशी, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०)

परमात्मा समय-समयपर पृथ्वीपर ऐसी दिव्य आत्माओंको अपने प्रतिनिधिके रूपमें भेजते हैं, जो भय, चिन्ता और तनावसे ग्रस्त मानव-जातिको आत्मिक सुख तथा परम शान्तिके मार्गपर आगे बढ़ाते हैं। बीसवीं सदीमें भारतकी पुण्यभूमिमें जन्मे श्रीशिवबाला योगी महाराज ऐसी ही एक महान् विभूति थे, जिन्होंने विश्वके लाखों लोगोंको भक्ति-योग और ध्यान-मार्गमें प्रवृत्तकर तनावरहित जीवन जीनेकी कला सिखायी।

पूज्य महाराजजीका जन्म २४ जनवरी सन् १९३५ ई०को आन्ध्र प्रदेशके पूर्वी गोदावरी जिलेमें स्थित आदिवरपुपेटा नामक कस्बेमें हुआ था। जन्मका नाम था सत्यराजू। उनका अध्यात्म-जगत्में आकस्मिक प्रवेश उस समय हुआ, जब वे चौदह वर्षके थे। एक दिन दोपहरके समय गाँवकी एक नहरमें अपने साथियोंसहित स्नान करनेके उपरान्त वे ताड़फलके एक टुकड़ेसे रस निचोड़ रहे थे। अचानक उनके शरीरमें तीव्र कम्पन होने लगा और हाथमें रखे फलसे उन्हें एक प्रचण्ड ज्योति फूटती हुई प्रतीत हुई। साथ ही कानोंमें ओंकारकी ध्वनि गूँजने लगी। थोड़ी देरमें उस ताड़ फलके स्थानपर एक काले रंगका शिवलिंग दिखायी पड़ा, जो दो टुकड़ोंमें विभक्त हो गया और उसके अन्दरसे एक अत्यन्त सुन्दर भस्म-भूषित जटाधारी सात फीट ऊँचे तेजोमय जंगम ऋषि प्रकट हो गये। उन्होंने सत्यराजूको पद्मासनमें बिठा दिया और आँखें बन्द करनेको कहा। फिर उन्होंने सत्यराजूके भ्रूमध्यभागपर मध्यमा उँगलीसे स्पर्श किया और सिरपर हलकी-सी थपकी दी। इसके साथ ही सत्यराजूकी बाह्य चेतना जाती रही और वे गहन ध्यानमें निमग्न हो गये। इस प्रकार सत्यराजूको दीक्षा देकर जंगम वेषधारी दिव्य गुरु अन्तर्धान हो गये।

जहाँ सत्यराजूके सामने यह दिव्य घटना घटित हो रही थी, वहीं उनके साथके बच्चोंने कुछ नहीं देखा। वे तो यही समझ रहे थे कि सत्यराजू साधु बननेका ढोंग कर रहा है। वे उसे चिढ़ाने लगे, किसीने घूँसा मारा, किसीने उसके शरीरपर कीचड़ पोत दी और अन्तत: किसीने उसे घसीटकर नहरके किनारे डाल दिया। जब सत्यराजूने इन कृत्योंपर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी तो उनके साथी घबरा गये और उन्हें खींचकर उसके घरपर छोड़ गये। उनके परिजन और गाँववासी सत्यराजूकी विचित्र दशा देखकर विस्मित थे। अर्धरात्रिके आसपास जब सत्यराजूकी चेतना लौटी तो वे पुन: उसी नहरके बाँधपर चले गये, जहाँ उन्हें दिव्य दर्शन हुआ था। खुली आँखोंसे भी उन्हें उसी तेजोमय शिवलिंगके दर्शन हो रहे थे और कानोंमें अभी भी ओंकारका मधुर नाद सुनायी पड़ रहा था। उनके सामने जो भी परिचित जन आते, वे सत्यराजूको मात्र परछाईंके समान चलते-फिरते प्रतीत हो रहे थे। तीव्र वर्षामें नहर-तटपर गीली भूमिपर बैठे हुए सत्यराजूको देखकर उनकी माताने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे उनसे घर लौटनेको कहा, किंतु दृढ़ वैराग्यमें स्थित हो चुके सत्यराजूने उनका भी आग्रह स्वीकार नहीं किया। अपनी साड़ीके आँचलमें रो-रोकर सिसकते हुए माताने जब निष्ठुर बने हुए सत्यराजूकी ओर निहारा तो उन्हें त्रिमूर्तिके दर्शन होने लगे। अब वे जिधर भी देखतीं, उन्हें परमात्माके त्रिमूर्तिरूपमें दर्शन होने लगते। इस दिव्य दर्शनसे वे समझ गयीं कि उनका पुत्र परमात्माके संरक्षणमें है और डरनेकी कोई बात नहीं है।

सत्यराजूको खुले आसमानके नीचे आँधी-पानीसे अविचलित रहते हुए तप करते देखकर गाँववाले समझ गये कि यह चौदह वर्षीय बालक अब एक बालयोगी बन चुका है। गाँववाले अब उन्हें यथोचित आदर देने लगे, किंतु कुछ लोग ऐसे भी थे, जो उनसे ईर्ष्या करने लगे। ऐसे ही एक ईर्ष्यालु व्यक्तिने रातके समय जब बालयोगी ध्यानस्थ थे, मिट्टीके तेलमें भिगोकर एक जलता हुआ कपड़ा उनके ऊपर फेंक दिया, जिससे उनकी जाँघोंपर फफोले पड़ गये। इस प्रकारके कृत्योंसे बालयोगीकी साधनामें विघ्न पड़ रहा था। अत: कुछ समय पश्चात् बालयोगी गाँवसे दूर श्मशानभूमिमें चले गये और वहीं रहकर साधना करने लगे। समाधिरत

रहनेके कारण चूहे, चीटियाँ और खरगोश आदि उनके शरीरपर घूमते रहते थे और कभी-कभी शरीरको नोंच लेते थे, जिससे शरीरपर घाव बन जाते थे।

एक बार बालयोगी मध्यरात्रिकालीन स्नानके लिये नहरपर जा रहे थे तो एक कोबरा सर्पने उनके पैरमें डँस लिया। सर्पका विष उनके पूरे शरीरमें फैल जानेके कारण उनका शरीर नीला पड़ गया और वे तीव्र वेदनासे ग्रस्त हो गये। अब उनके लिये ध्यान केन्द्रित करना अत्यन्त कठिन हो गया। इस कठिन अवसरपर बालयोगीका मनोबल बनाये रखनेके लिये उनके दिव्य गुरु उनके सम्मुख प्रकट हुए और उन्हें पंचाक्षर मन्त्रका जप करनेकी आज्ञा दी। दिव्य गुरुके दर्शन और मन्त्र-जपके प्रभावसे विषका असर दूर हो गया और वे पुनः पूरे उत्साहसे तप-साधनामें लीन हो गये।

जब ग्रामीणोंको यह पता चला कि विषैले सर्पके काटनेपर भी सत्यराजूकी मृत्यु नहीं हुई तो सभीकी उनपर श्रद्धा बढ़ गयी। स्वयं पूर्वी गोदावरीके जिला कलेक्टर सत्यराजूके दर्शन करने मध्यरात्रिमें श्मशान भूमिमें पहुँचे, जहाँ बालयोगी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने देखा कि बालयोगी निश्चल अवस्थामें गीली भूमिपर बैठे-बैठे ही तपस्यारत हैं। अतः उन्होंने बालयोगीके बैठनेके लिये एक लकड़ीका चबूतरा बनवा दिया, जिसमें बिछानेके लिये एक व्याघ्रचर्मकी भी व्यवस्था करवा दी। उस चबूतरेपर ताड़के पत्तोंका मण्डप-सा बनवा दिया, जिससे आँधी-वर्षाका प्रभाव कुछ कम किया जा सके। कुछ समय बाद स्थानीय जमींदारने उनके लिये एक पक्का मन्दिर बनवा दिया। मन्दिर तैयार हो जानेपर बालयोगीको ध्यानस्थ अवस्थामें ही उठाकर मन्दिरके अन्दर बनाये गये चबूतरेपर रख दिया गया, क्योंकि निरन्तर ध्यान-समाधिमें डूबे रहनेके कारण बालयोगीके हाथ-पैर सख्त हो चुके थे और वे स्वयं चलने-फिरनेमें असमर्थ थे। आहारके रूपमें सिर्फ एक गिलास दूध लेते थे। मन्दिरका निर्माण करनेवालोंने दरवाजेपर ताला डाल दिया और चाबी बालयोगीकी माँको सौंप दी, ताकि बालयोगी निर्विघ्नतापूर्वक तपमें लीन रह सकें।

इस बीच तपस्याके धनी और तीन बार कायाकल्प कर चुके उत्तर भारतके १८० वर्षीय महान् सन्त तपस्वीजी महाराज दक्षिण भारतमें काकीनाडा-स्थित अपने विष्णुसेवाश्रममें प्रवास करने पहुँचे। भगवान् श्रीकृष्णने तपस्वीजी महाराजको आदेश दिया था कि जीवनके उत्तरार्धमें वे दक्षिण भारतमें तपस्यारत साधकोंका मार्गदर्शन करें। अतः जब उन्हें आदिवरपुपेटामें तपस्यारत बालयोगीके विषयमें सुननेको मिला तो उन्हें देखनेकी इच्छासे अपने शिष्योंके साथ आदिवरपुपेटा आकर बालयोगीके तपस्यास्थलपर पहुँचे। तपस्वीजी महाराजने ध्यान-बलसे बालयोगीके पूर्वजन्मोंका परिचय पा लिया और बताया कि बालयोगी एक सिद्ध पुरुष हैं, जो अपनी स्वतन्त्र इच्छासे मानवताके कल्याणके लिये अवतरित हुए हैं। उन्होंने कहा कि बालयोगी भगवद्‌गीताके छठे अध्यायमें वर्णित गुणोंके मूर्तिमान प्रतीक हैं। तपस्वीजीद्वारा किये गये इस रहस्योद्‌घाटनसे लोगोंकी बालयोगीके प्रति श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गयी।

तपस्वीजी महाराज उस समय १८० वर्षके थे और एक सिद्ध योगी थे। अतः तपस्वीजी महाराजने अपने अनुभवसे बालयोगीको तपस्यामें आनेवाली सम्भावित बाधाओंके विषयमें बताया और उनके निराकरणके लिये बहुमूल्य मार्गदर्शन किया। तपस्वीजीने देखा कि दीर्घकालतक निःस्पन्द तपस्यामें डूबे रहनेके कारण बालयोगीकी हथेलियाँ जुड़ गयी थीं और उँगलियाँ लकड़ीकी तरह सख्त हो गयी थीं। अतः अगली बार जब तपस्वीजी महाराज आदिवरपुपेटा आये तो बालयोगीके लिये एक औषधिमिश्रित तेल लाये। उन्होंने स्वयं बालयोगीकी हथेलीपर वह तेल मला। इस तेलके प्रयोगसे कुछ समय बाद उनकी हथेलियाँ अलग हो सकीं और वे उँगलियोंको हिला-डुला सकनेमें समर्थ हुए। तपस्वीजीने बालयोगीकी माँको एक गाय खरीदवा दी, जिससे बालयोगीको नियमित रूपसे ताजा शुद्ध दूध मिलता रहे। यद्यपि तपस्वीजीके दिये औषधिमिश्रित तेलसे बालयोगी अपनी हथेली और उँगलियोंको हिलाने-डुलानेमें समर्थ हो गये थे। लेकिन उनकी टाँगें अभी भी पूर्ववत् काम नहीं कर रही थीं। चलना तो दूर वे खड़ेतक नहीं हो पाते थे। इस कारण बालयोगी अपना मध्य रात्रिकालीन स्नान भी छोड़ चुके थे। एक रात अकस्मात् उनके दिव्य गुरु पुनः प्रकट

हुए और उन्होंने अपने करकमल बालयोगीकी टाँगोंपर फेरे। फिर क्या था, बालयोगी अपनी टाँगोंको हिलाने-डुलानेमें समर्थ हो गये। अब बालयोगी दूने उत्साहसे तपस्यामें जुट गये। बालयोगी मध्यरात्रिमें थोड़ी देरके लिये समाधिसे जगते थे। तब वे स्नान करते और दूध लिया करते थे। लेकिन हाथ-पैरका कष्ट दूर होनेके बाद वे इतनी गहन निर्विकल्प समाधिमें डूब गये, जो पूरे एक माह चली। जब उनकी समाधि टूटी तो उन्होंने ध्यान-मन्दिरको दिव्य प्रकाशपुंजसे आलोकित पाया। उन्होंने देखा कि उस दिव्य आलोकपुंजके मध्यमें परम सौन्दर्ययुक्त कर्पूरगौर भगवान् शंकर खड़े हैं। भगवान्के दर्शनसे बालयोगी अपूर्व आनन्द-सागरमें गोते लगाने लगे। भगवान् शंकरने बालयोगीकी तपस्याकी प्रशंसा की और वर माँगनेको कहा। बालयोगीने कोई वर नहीं माँगा और भगवान् अन्तर्धान हो गये।

योगशास्त्रोंके विधानके अनुसार किसी भी योगीको बारह वर्षोंकी तपस्यासे दिक् सिद्धि प्राप्त होती है। तदनुसार दिव्य गुरुके आज्ञानुसार बालयोगीने क्रमशः पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके कठोर तपस्या करते हुए प्रत्येक दिशामें इष्टका साक्षात्कार किया तथा आठ वर्षमें ही दिक् सिद्धि प्राप्त कर ली। दिक् सिद्धि प्राप्त करनेके पश्चात् दिव्य गुरुके निर्देशानुसार बालयोगीजीकी दिनचर्यामें थोड़ा परिवर्तन आया। पहले वे दिनमें २३ घंटे समाधिमें रहते थे। अब यह अवधि १२ घंटे कर दी गयी। अब वे कुछ समयतक भक्तोंको दर्शन भी देने लगे। इस बीच ध्यान-मन्दिरमें कीर्तन होता रहता था। आहारके रूपमें अब वे दूधके अतिरिक्त कुछ फल भी ग्रहण करने लगे। लेकिन बारहवर्षीय तपस्याके अन्तिम वर्षमें उन्होंने पहले तो फल लेने छोड़ दिये, फिर दूध लेना भी कम कर दिया। कई दिनोंके अन्तरालमें वे एक गिलास दूध ले लेते थे। बाकी दिन वे रात्रिकालीन स्नानके समय थोड़ा पानी पी लेते थे। तपस्याके अन्तिम चरणमें बालयोगीजी अनवरत अविच्छिन्न निर्विकल्प समाधिमें डूब गये, जो दो माहतक चली। दो माह बीतनेपर दिव्य गुरुने उन्हें गहन समाधिसे जगाया और पार्वती-परमेश्वरके युगलरूपमें दर्शन देकर कृतकृत्य कर दिया। इस अवसरपर भगवान् शंकरने बालयोगीके समक्ष यह रहस्योद्घाटन भी किया कि वे ही जंगम ऋषिके रूपमें बालयोगीका मार्गदर्शन करने समय-समयपर प्रकट होते थे। भगवान्ने बालयोगीजीसे पूछा कि उनकी कोई इच्छा हो तो वर माँग लें, किंतु बालयोगीजी आत्मसाक्षात्कार प्राप्तकर कृतकृत्य हो चुके थे और उनकी कोई इच्छा शेष नहीं थी। अतः बालयोगीजीने कहा कि उनकी कोई इच्छा नहीं है। आप जो चाहेंगे मैं वही करूँगा। बालयोगीजीके उत्तरसे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा कि अबसे तुम्हारा नाम शिव बालायोगीश्वर होगा; क्योंकि तुम शिव और बाला (पार्वती)-के आत्मस्वरूप हो चुके हो। तुम देश-विदेशमें घूम-घूमकर लोगोंको दर्शन दो और ध्यानमार्गमें प्रवृत्त करो, पवित्र विभूतिका वितरणकर लोगोंके दैहिक, दैविक तथा मानसिक कष्टोंको दूर करो। इतना आदेश देकर भगवान् पार्वती-परमेश्वरकी दिव्य मूर्ति बालयोगीके शरीरमें ही लीन हो गयी।

भगवान्के आदेशानुसार स्वामीजी श्रीशिव बालायोगी महाराजने भारतके कोने-कोनेमें जाकर भक्तियोग एवं ध्यानमार्गका प्रचार-प्रसार किया। भारतके बाहर भी श्रीलंका, इटली, इंगलैण्ड तथा अमरीकामें कई बार जाकर ध्यानमार्गका प्रचार-प्रसार किया। इस पावन कार्यके लिये उनके भक्तोंने आदिवरपुपेटा, बंगलौर, अनन्तपुर, देहरादून, सांभरलेक, आगरा आदिमें आश्रम स्थापित किये। उन्होंने कई मन्दिरोंकी भी स्थापना की। सर्वप्रथम आदिवरपुपेटामें सन् १९६२ ई० में महाशिवरात्रिके पुनीत अवसरपर शिवलिंग एवं पार्वतीजीकी मूर्तिकी स्थापना की। पुनः सन् १९७१ में नुवाराइलिया, श्रीलंकामें शिवलिंगकी स्थापना की। तत्पश्चात् सन् १९८७ ई० में बंगलौर आश्रमके प्रांगणमें त्रिमूर्तिका भव्य मन्दिर स्थापित किया। पुनः सन् १९८९ ई० में वैनिस, इटलीमें शिवलिंगकी स्थापना की। स्वामीजी जहाँ भी जाते थे, उनके सत्संग-कार्यक्रमोंमें कीर्तन, भजन और ध्यानपर विशेष जोर दिया जाता था। वे प्रवचन नहीं करते थे, पर उनकी उपस्थितिमात्र अनेकानेक दर्शनार्थियोंको भाव-समाधिमें प्रवेश करा देती थी। उनसे एक अद्भुत तपःशक्ति निःसृत होती रहती थी, जो सामने बैठे हुए भक्त-समुदायको अनायास विलक्षण शान्तिके

समुद्रमें डुबो देती थी। लाखों लोगोंने उनके दर्शनमात्रसे प्रभावित होकर अपूर्व शान्ति तथा दिव्य आनन्दके राजमार्गमें पग बढ़ाये। उनके चेहरेपर दिव्य तेज रहता था। एक सफेद लँगोटके सिवा वे प्रायः पूरे वर्ष निर्वस्त्र रहते थे। सिरपर बालोंकी लम्बी जटा बन गयी थी, जो कमरतक लटकती थी और भगवान् शिवके प्रिय भुजंगराजकी तरह शोभा पाती थी। दर्शनार्थियोंके दैहिक, दैविक और मानसिक तापका निवारण करनेके लिये वे विभूति-वितरण करते थे। उनके द्वारा दी गयी विभूतिके सेवनसे अनेक लोगोंको दु:साध्य रोगोंसे मुक्ति प्राप्त हुई। लेखकको स्वामीजी महाराजके दर्शन और सत्संगका तब सौभाग्य मिलता था, जब वे प्रतिवर्ष कुछ दिनोंके लिये देहरादून आश्रममें पधारते थे। यह आश्रम उन्हें पटनाकी भूतपूर्व महारानी कैलाश कुमारी देवीने भेंटस्वरूप अर्पित किया था। महारानीजीको स्वामीजी महाराजका प्रथम दर्शन आनन्दमयी माँके देहरादून आश्रममें प्राप्त हुआ था, जहाँ स्वामीजी कुछ घंटोंके लिये आनन्दमयी माँके निमन्त्रणपर पधारे थे। स्वामीजीके प्रथम दर्शनका महारानीजीके मनपर इतना दिव्य प्रभाव हुआ कि वे सदाके लिये उनके शरणापन्न हो गयीं और कालान्तरमें अपना देहरादूनस्थित ग्रीष्मकालीन राजमहल आश्रम निर्माणहेतु स्वामीजीके चरणकमलोंमें अर्पित कर दिया। अट्ठाईस मार्च १९९४ ई०को स्वामीजीने दक्षिण भारतस्थित काकीनाडा शहरमें महासमाधि ग्रहण की।

दूषित अन्नका प्रभाव

महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया था। धर्मराज युधिष्ठिर एकच्छत्र सम्राट् हो गये थे। श्रीकृष्णचन्द्रकी सम्मतिसे रानी द्रौपदी तथा अपने भाइयोंके साथ वे युद्धभूमिमें शरशय्यापर पड़े प्राणत्यागके लिये सूर्यके उत्तरायण होनेकी प्रतीक्षा करते परम धर्मज्ञ भीष्मपितामहके समीप आये थे। युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मपितामह उन्हें वर्ण, आश्रम तथा राजा-प्रजा आदिके विभिन्न धर्मोंका उपदेश कर रहे थे। वह धर्मोपदेश चल ही रहा था कि रानी द्रौपदीको हँसी आ गयी।

'बेटी! तू हँसी क्यों?' पितामहने उपदेश बीचमें ही रोककर पूछा।

द्रौपदीजीने संकुचित होकर कहा—'मुझसे भूल हुई। पितामह! मुझे क्षमा करें।'

पितामहको इससे सन्तोष नहीं था। वे बोले—'बेटी! कोई भी शीलवती कुलवधू गुरुजनोंके सम्मुख अकारण नहीं हँसती। तू गुणवती है, सुशीला है। तेरी हँसी अकारण हो नहीं सकती। संकोच छोड़कर तू अपने हँसनेका कारण बता।'

हाथ जोड़कर द्रौपदीजी बोलीं—'दादाजी! यह बहुत ही अभद्रताकी बात है; किंतु आप आज्ञा देते हैं तो कहनी पड़ेगी। आपकी आज्ञा मैं टाल नहीं सकती। आप धर्मोपदेश कर रहे थे तो मेरे मनमें यह बात आयी है कि 'आज तो आप धर्मकी ऐसी उत्तम व्याख्या कर रहे हैं; किंतु कौरवोंकी सभामें जब दु:शासन मुझे वस्त्रहीन करने लगा था, तब आपका यह धर्मज्ञान कहाँ चला गया था? मुझे लगा कि यह धर्मका ज्ञान आपने पीछे सीखा है। मनमें यह बात आते ही मुझे हँसी आ गयी, आप मुझे क्षमा करें।'

पितामहने शान्तिपूर्वक समझाया—'बेटी! इसमें क्षमा करनेकी कोई बात नहीं है। मुझे धर्मज्ञान तो उस समय भी था; परंतु दुर्योधनका अन्यायपूर्ण अन्न खानेसे मेरी बुद्धि मलिन हो गयी थी, इसीसे उस द्यूतसभामें धर्मका ठीक निर्णय करनेमें मैं असमर्थ हो गया था। परंतु अब अर्जुनके बाणोंके लगनेसे मेरे शरीरका सारा रक्त निकल गया है। दूषित अन्नसे बने रक्तके शरीरसे बाहर निकल जानेके कारण अब मेरी बुद्धि शुद्ध हो गयी है; इससे इस समय मैं धर्मका तत्त्व ठीक समझता हूँ और उसका विवेचन कर रहा हूँ।'

गोसेवासे भयंकर चर्मरोगसे मुक्ति मिली

(श्रीरामसुहावनजी यादव)

लगभग १५ साल पहले मेरे शरीरमें सेहुआ-जैसे चकत्ते निकलना शुरू हुए। उनका इलाज वहीं बबेरू (बाँदा)-के साधारण डॉक्टरोंसे कराया। डॉक्टरोंने इंजेक्शन, टैबलेट और लगानेका मरहम दे दिया। उससे कोई फायदा नहीं हुआ, कुछ दिनके लिये रोग दब जरूर गया था। इसके बाद रोग फिर उभरा और लाल-लाल चकत्ते पूरे शरीरमें हो गये, फिर बाँदाके एक सरकारी चर्मरोगके एलोपैथिक डॉक्टरको दिखाया और उनका एक सालतक इलाज लिया। कुछ दिन दवाई करनेसे थोड़ी-सी राहत मिली, पर फिरसे रोग उभर आया। इस बार रोग और बढ़कर सामने आया। अब मैंने नैनी इलाहाबादके ईसाइयोंके एक बहुत बड़े चर्मरोग अस्पतालमें दिखाना शुरू किया, वहाँ लगातार आठ सालतक इलाज करता रहा। खूब पैसा लगाता रहा, रोग दबता था, किंतु जैसे ही दवा बन्द कर दूँ तो फिरसे बीमारी उभर जाती थी। पूरे शरीरसे छिलके-जैसे उतरते थे, चकत्ते हो जाते थे और इतनी खुजली होती थी कि मानो प्राण ही निकल जायँगे। डॉक्टरोंने इसे सोरायसिस बताया था। अब लगने लगा कि भगवान्‌ने मेरे लिये कोई दवा ही नहीं बनायी है और मैं भगवान्‌से लगातार प्रार्थना करता कि मुझे कोई रास्ता दिखाओ। तभी मुझे पता चला कि भगवान् श्रीरामकी तपोभूमि चित्रकूटमें आयुष ग्राम ट्रस्टका एक चिकित्सालय है, जिसके संस्थापक डॉ० मदनगोपाल वाजपेयीजी हैं। वहाँ इस रोगका पक्का इलाज है और इलाज भी आयुर्वेदका है।

अब मैं इस धर्मार्थ ट्रस्टमें इलाज कराने पहुँचा। चर्मरोगकी ओपीडीमें पर्चा बनवाकर मैं पहुँचा। डॉक्टर साहबने मुझे देखा फिर पूरा परहेज इत्यादि बताया, फिर दवाइयाँ लिखीं। यहाँ एक देशी गायोंकी गोशाला भी है, जहाँ काफी गायें हैं, उनकी सेवा होती है, पर कोई व्यवसाय नहीं किया जाता। मेरे मनमें विचार आया कि मैं यहाँ रहकर गोमाताओंकी सेवा करूँ और दवाइयाँ करूँ; क्योंकि अब मुझे लगने लगा था कि मौतके अलावा कुछ नहीं है। मैंने यहाँके प्रबन्धकसे अनुमति माँगी, उन्होंने रहने और भोजनकी अनुमति दे दी। मैं पूरी लगन, निष्ठा और सेवाभावसे गोमाताओंकी सेवा करने लगा। उन्हें चारा देता, उनके गोबरको साफ करता, गोशाला साफ करता, गोमूत्रको हटाता। गोमाताओंको नहलाता, उन्हें सुबह प्रणाम करता तथा आशीर्वाद माँगता कि हे गोमाताओ, मेरा चर्मरोग ठीक करो; क्योंकि यदि मुझे कुछ हो गया तो मेरे परिवारका क्या होगा? मेरे चाचाजीको भी एक तरहका चर्मरोग हो गया था और दवा खाते-खाते चर्मरोग तो गया नहीं, पर दूसरा रोग जरूर हो गया तथा फिर उनकी मृत्यु हो गयी।

मुझे दूसरे महीनेसे ही चमत्कार दिखायी पड़ने लगा चर्मरोग मिटने लगा, धीरे-धीरे पूरी चमड़ी साफ होने लगी। नयी चमड़ी बनने लगी। एक साल मुझे गोमाताओंकी सेवा करते हुए साथमें दवा कराते हुए हो गये। आज मैं पूरी तरहसे ठीक हूँ। मेरे शरीरमें ताकत आ गयी है। पहले तो चलने-फिरनेमें परेशानी होती थी, नींद नहीं आती थी, खाना अच्छा नहीं लगता था, पर अब मैं पूरी तरह स्वस्थ हूँ। यह पूरा-का-पूरा प्रताप और आशीर्वाद गोमाताओंका ही है। मैंने संकल्प कर रखा है कि जीवनभर गोमाताओंकी सेवा करता रहूँगा। वही दवा मेरे शरीरपर काम करने लगी। वास्तवमें जो हमारे शास्त्रोंमें बताया गया है तथा साधु, महात्मा गोसेवाका जो महत्त्व बताते हैं, उसका प्रभाव मैंने प्रत्यक्ष देखा है।

साधनोपयोगी पत्र

दोषनाशके उपाय

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका लम्बा पत्र मिला। आपने 'काम' और 'मान' इन दो दोषोंकी बात लिखी, सो मेरी समझमें ये दोष आपमें ही नहीं, न्यूनाधिकरूपमें अधिकांश लोगोंमें रहते हैं। वेष-भूषा तो बहुत मोटी बात है; भजन, कीर्तन, ध्यान, वैराग्यका स्वाँग, वेष-भूषाका त्याग और अन्य भाँति-भाँतिके त्याग भी कहीं-कहीं 'काम' और 'मान' के लिये ही होते हैं। स्त्रियाँ समझें ये बड़े भक्त हैं, महात्मा हैं, त्यागी हैं और हमारी ओर आकर्षित हों; लोग समझें ये वैराग्यवान्, ध्यानके अभ्यासी सत्पुरुष हैं और हमें सम्मान प्राप्त हो; इसीलिये शुभ चेष्टाएँ की जाती हैं। फिर, स्त्रीको देखनेपर, मनमें विकार होनेमें और मान न मिलनेपर विषाद होनेमें कौन बड़ी बात है? इसका कारण है—विषयासक्ति। वस्तुतः मनुष्य बहुत ही कम समय वस्तुतः अपने चित्तको वास्तविक रूपसे भगवच्चिन्तनमें लगाता है। उसका अधिकांश समय केवल विषयचिन्तनमें जाता है। जैसा चिन्तन होता है, वैसे पदार्थोंसे वह घिर जाता है। विषय-चिन्तन ही अशुभचिन्तन है; इसीसे उसकी अशुभमें आसक्ति उत्पन्न होती और दृढ़तर होती जाती है। अशुभचिन्तनके समान मनुष्यका पतन करनेवाला और कोई शत्रु नहीं है। इसीसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। अतएव मनुष्यको निरन्तर बड़ी सावधानीके साथ ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, जिसमें मन भगवच्चिन्तनके अभ्यासमें लगे। इसके लिये दृढ़ निश्चय और लगनकी आवश्यकता है। भगवत्कृपापर विश्वास और आत्मशक्तिका दृढ़ निश्चय हो जानेपर कोई भी बाधा टिक नहीं सकती। लोग विषयचिन्तन करते हैं, मनमें विषयोंके प्रति आसक्ति है और यह निश्चय नहीं है कि भगवान्की अनन्त शक्ति सदा हमारी रक्षा करनेके लिये हमारे साथ मौजूद है। इसीसे वे काम, क्रोध और मानादि शत्रुओंके सामने आनेपर उनके वश हो जाते हैं और उनसे हारकर पतनके गड्ढेमें गिर जाते हैं। हार पहले ही माने हुए हैं—क्योंकि मनमें दृढ़ निश्चय नहीं है। भगवान्की रक्षा करनेवाली चिरसंगिनी आत्मशक्तिपर विश्वास नहीं है। आत्मशक्तिपर विश्वास हो और यह दृढ़ धारणा हो कि यह आत्मशक्ति भगवान्की है—हमारी बुद्धि, हमारे मन, प्राण, इन्द्रियाँ सब आत्मशक्तिके द्वारा भगवान्के साथ सम्बन्धित हैं—भगवान् ही इनके स्वामी हैं और भगवान्के अनन्त शक्तिमान् होनेसे उनकी यह शक्ति भी अनन्त शक्तिमती है, तो फिर कभी काम, मानादि आक्रमण न कर सकें—वे दूरसे ही भाग जायँ, चित्तमें तो कभी प्रवेश करें ही नहीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि जो वस्तु भगवान्के समर्पित हो गयी, वह सुरक्षित हो गयी। उसको भगवान् ही दूसरे रूपमें बदलना चाहें तो भले ही बदल दें—किसी अन्य शक्तिकी ताकत नहीं कि उसकी ओर देख भी सके। अम्बरीषका देह भी भगवान्के अर्पण था, इससे दुर्वासाकी क्रोधाग्नि उसका कुछ भी न बिगाड़ सकी। घोररूपा कृत्याके सामने अम्बरीष स्थिर खड़े रहे—न पीछे हटे, न बचनेकी कोशिश की, न उसपर कोई प्रहार ही किया। भगवान्की शक्तिने अपने-आप कृत्याका काम समाप्त कर दिया। भगवान्की शक्ति सुदर्शनके रूपमें पहले ही अम्बरीषके देहकी रक्षाके लिये नियुक्त थी। इसीलिये थी कि अम्बरीषने उसको पहलेसे ही भगवान्की सम्पत्ति बना दिया था। मेरी समझसे दोषोंसे बचनेका एक प्रधान उपाय यह भी है कि जिन अंगोंमें ये दोष आते हैं, उन्हें भगवान्के अर्पण कर दिया जाय और उनके द्वारा भगवान्की ही सेवा की जाय। अपने प्रयत्नमें त्रुटि न हो और अपनी ईमानदारीमें—अर्पणकी इच्छामें त्रुटि न हो। फिर जो

कमी होगी, उसे भगवान् अपनी शक्तिसे आप ही पूरी कर लेंगे। और जो चीज भगवान्‌की हो जायगी, उसकी रक्षा पाप-तापसे वे आप ही करेंगे। अथवा भगवान्‌पर निर्भर किया जाय—पूरे भरोसेके साथ। यह निश्चित बात है कि यदि हमारी निर्भरता सच्ची होगी तो भगवान्‌की सहायता हमें ठीक वक्तपर, ऐन मौकेपर अवश्य ही प्राप्त होगी। हाँ, प्राप्त होगी उसी अनुपातसे, जिस अनुपातमें हमारी निर्भरता होगी। सच्ची बात तो यही है। आप इतना काम कीजिये—

१-यथासाध्य चेष्टा कीजिये कि अधिक-से-अधिक समयतक चित्तके द्वारा भगवच्चिन्तन हो।

२-भगवान्‌की कृपापर भरोसा बढ़ाइये।

३-मनमें यह दृढ़ निश्चय कीजिये कि भगवान् सदा अपनी पूरी शक्तिके सहित मेरे साथ हैं। मुझपर कामादिके आक्रमण नहीं हो सकते। यदि कभी ये दोष सामने आयेंगे तो निश्चय ही भगवान्‌की शक्तिसे मारे जायँगे।

४-मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अहंकार आदि सभीको प्रतिक्षण सावधानीके साथ भगवान्‌के अर्पण करते रहिये—जिस समय वे सच्ची पूरी बात देखेंगे, उसी क्षण इनको ग्रहण कर लेंगे।

५-भगवान्‌की कृपापर निर्भर होनेका अभ्यास कीजिये। ये पाँच बातें कीजिये, फिर देखिये, कितनी जल्दी इन दोषोंका नाश होता है। और भी उपाय हैं—

आत्मशक्तिके द्वारा पूरा निश्चय—दृढ़ संकल्प कर लिया जाय कि ये दोष मुझमें नहीं आ सकते, तो फिर कम आयेंगे। आयें तब आत्माके द्वारा उनका तिरस्कार, अपमान किया जाय, उनपर तीव्र प्रहार किये जायँ, उन्हें एक क्षणके लिये भी सुखसे न टिकने दिया जाय, तो वे आना छोड़ देंगे। दूरसे सताना भी छोड़ देंगे। आत्माकी मूक अनुमतिसे ही पाप होते हैं, जो आत्माकी कल्पित दुर्बलता और दृढ़ अध्यवसायके अभावसे इन्हें मिलती रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक पापोंको रोकना चाहे तो पाप नहीं आ सकते।

आपसे हो सके तो एक उपाय बहुत उत्तम है—प्रतिज्ञा कर लीजिये प्रतिक्षण लगातार नामजपकी। नाम-जपका तार यदि जाग्रत्-अवस्थामें कभी नहीं टूटेगा तो निश्चय ही ये सब पाप मर जायँगे। यह महात्माओंका अनुभूत सरल प्रयोग है।

आपने लिखा कि 'मैं कई बार सुन चुका हूँ, परंतु दोष छूटते ही नहीं—इस बार ऐसा बल दीजिये, जिससे मैं इन्हें फटकार बतला सकूँ।' इसका उत्तर यह है—वस्तुतः कई बार सुननेसे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। कहनेवाला यदि हृदयसे कहता हो, अर्थात् जो बात वह कहता हो, वह उसके द्वारा अनुभूत, आचरित और सत्य हो एवं सुननेवाला भी हृदयसे सुनता हो—उसके चित्तमें पूर्ण श्रद्धा हो और उसी प्रकार करनेका दृढ़ संकल्प हो और सुनते ही वैसा ही करने लगे तो एक ही बारके सुननेसे काम हो जाता है। हम सुनते हैं मुर्दा वाणीको—मुर्दा मनसे, इसीसे इसका कोई असर नहीं होता। बल्कि अधिक सुनते-सुनते मन और कान बहरे हो जाते हैं। सुनना चाहिये जीवित मनसे और कहना भी चाहिये जीवित मनसे—जीवित मन वही है, जिसके साथ परम श्रद्धा है और सत्यरूपसे आत्माके दृढ़ अध्यवसायका संकल्प है और जिसके करनेके लिये प्राण आतुर है।

रही मेरे बल देनेकी बात सो………… मेरे पास एक ही बल है—***'हारेको हरिनाम'*** और आपसे भी यही कहता हूँ, उसका आश्रय लीजिये। सारे पाप-तापोंसे छुड़ानेमें वह पूरा समर्थ है। अधिक क्या लिखूँ? शेष भगवत्कृपा।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०७६, शक १९४१, सन् २०१९, सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-शरद-ऋतु, आश्विन कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा दिनमें १०। ४५ बजेतक	रवि	उ०भा० रात्रिमें १।८ बजेतक	१५ सितम्बर	**द्वितीयाश्राद्ध, मूल** रात्रिमें १। १८ बजेसे।
द्वितीया,, १२।३६ बजेतक	सोम	रेवती ,, ३।३३बजेतक	१६ ,,	**तृतीयाश्राद्ध, भद्रा** रात्रिमें १। २२ बजेसे, **मेषराशि** रात्रिमें ३। ३३ बजेसे, **पञ्चक** समाप्त रात्रिमें ३। ३३ बजे।
तृतीया ,, २।८ बजेतक	मंगल	अश्विनी रात्रिशेष ५।२५ बजेतक	१७ ,,	**भद्रा** दिनमें २।८ बजेतक, **संकष्टी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय** रात्रिमें ८।५ बजे, **विश्वकर्मापूजा, कन्या-संक्रान्ति** रात्रिशेष ४।६ बजे, **शरद-ऋतु प्रारम्भ, मूल** समाप्त रात्रिशेष ५। २५ बजे।
चतुर्थी ,, ३।१३ बजेतक	बुध	भरणी अहोरात्र	१८ ,,	**चतुर्थीश्राद्ध, भरणीश्राद्ध।**
पंचमी ,, ३।५१ बजेतक	गुरु	भरणी प्रातः ६।५० बजेतक	१९ ,,	**वृषराशि** दिनमें १।५ बजेसे, **पञ्चमीश्राद्ध।**
षष्ठी ,, ३।५७ बजेतक	शुक्र	कृत्तिका दिनमें ७।४७ बजेतक	२० ,,	**षष्ठीश्राद्ध, भद्रा** दिनमें ३।५७ बजेसे रात्रिमें ३। ४५ बजेतक।
सप्तमी ,, ३।३३ बजेतक	शनि	रोहिणी ,, ८।११ बजेतक	२१ ,,	**सप्तमीश्राद्ध, मिथुनराशि** रात्रिमें ८।९ बजेसे।
अष्टमी ,, २।४० बजेतक	रवि	मृगशिरा ,, ८।८ बजेतक	२२ ,,	**अष्टमीश्राद्ध, जीवत्पुत्रिकाव्रत।**
नवमी ,, १।२२ बजेतक	सोम	आर्द्रा ,, ७।३७ बजेतक	२३ ,,	**मातृनवमी, नवमी-दशमीश्राद्ध, भद्रा** रात्रिमें १२।३२ बजेसे, **कर्कराशि** रात्रिमें १२।५९ बजेसे।
दशमी ,, ११।४२ बजेतक	मंगल	पुनर्वसु प्रातः ६।४६ बजेतक	२४ ,,	**एकादशीश्राद्ध, भद्रा** दिनमें ११।४२ बजेतक, **मूल** रात्रिशेष ५।३४ बजेसे।
एकादशी ,, ९।४३ बजेतक	बुध	आश्लेषा रात्रिमें ४।९ बजेतक	२५ ,,	**द्वादशीश्राद्ध, इन्दिरा एकादशीव्रत** (सबका), **सिंहराशि** रात्रिमें ४।९ बजेसे।
द्वादशी प्रातः ७। ३२ बजेतक	गुरु	मघा ,, २।३४ बजेतक	२६ ,,	**त्रयोदशीश्राद्ध, भद्रा** रात्रिशेष ५।१० बजेसे, **प्रदोषव्रत।**
चतुर्दशी रात्रिमें २।४५ बजेतक	शुक्र	पू०फा० ,, १२।५५ बजेतक	२७ ,,	**चतुर्दशीश्राद्ध, भद्रा** दिनमें ३।५८ बजेतक।
अमावस्या ,, १२।२० बजेतक	शनि	उ०फा० ,, ११।१४ बजेतक	२८ ,,	**अमावस्याश्राद्ध, अमावस्या, पितृविसर्जन, कन्याराशि** प्रातः ६।२९ बजेसे।

सं० २०७६, शक १९४१, सन् २०१९, सूर्य दक्षिणायन, शरद-ऋतु, आश्विन शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा रात्रिमें १०।१ बजेतक	रवि	हस्त रात्रिमें ९।४० बजेतक	२९ सितम्बर	**शारदीय नवरात्रारम्भ, मातामह श्राद्ध।**
द्वितीया ,, ७।५२ बजेतक	सोम	चित्रा ,, ८।१६ बजेतक	३० ,,	**तुलाराशि** दिनमें ८।५८ बजेसे।
तृतीया सायं ५।५६ बजेतक	मंगल	स्वाती ,, ७।६ बजेतक	१ अगस्त	**भद्रा** रात्रिशेष ५।९ बजेसे।
चतुर्थी ,, ४।२० बजेतक	बुध	विशाखा सायं ६।१६ बजेतक	२ ,,	**भद्रा** सायं ४। २० बजेतक, **वृश्चिकराशि** दिनमें १२। २९ बजेसे, **वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत।**
पंचमी दिनमें ३।८ बजेतक	गुरु	अनुराधा ,, ५।४७ बजेतक	३ ,,	**मूल** सायं ५।४७ बजेसे।
षष्ठी ,, २।२२ बजेतक	शुक्र	ज्येष्ठा ,, ५।४६ बजेतक	४ ,,	**धनुराशि** सायं ५।४६ बजेसे।
सप्तमी ,, २।३ बजेतक	शनि	मूल ,, ६।१२ बजेतक	५ ,,	**भद्रा** दिनमें २।३ बजेसे रात्रिमें २।९ बजेतक, **महानिशापूजा, मूल** सायंमें ६।१२ बजेतक।
अष्टमी ,, २।१५ बजेतक	रवि	पू०षा० रात्रिमें ७।९ बजेतक	६ ,,	**मकरराशि** रात्रिमें १।३१ बजेसे **श्रीदुर्गाष्टमीव्रत, श्रीदुर्गानवमीव्रत।**
नवमी ,, ३।४ बजेतक	सोम	उ०षा० ,, ८।३८ बजेतक	७ ,,	× × × ×
दशमी सायं ४।१८ बजेतक	मंगल	श्रवण ,, १०।३१ बजेतक	८ ,,	**भद्रा** रात्रिशेष ५।७ बजेसे, **विजयादशी।**
एकादशी ,, ५।५६ बजेतक	बुध	धनिष्ठा ,, १२।४७ बजेतक	९ ,,	**भद्रा** सायं ५।५६ बजेतक, **कुम्भराशि** दिनमें ११।३९ बजेसे, **पञ्चकारम्भ** दिनमें ११।३९ बजे, **पापाङ्कुशा एकादशीव्रत** (सबका)।
द्वादशी रात्रिमें ७।५३ बजेतक	गुरु	शतभिषा ,, ३।८ बजेतक	१० ,,	**पद्मनाभद्वादशीव्रत।**
त्रयोदशी ,, १०।२० बजेतक	शुक्र	पू०भा० रात्रिशेष ५।५७ बजेतक	११ ,,	**मीनराशि** रात्रिमें ११।१७ बजेसे, **प्रदोषव्रत, चित्राका सूर्य** रात्रिमें ९।५२ बजे।
चतुर्दशी ,, १२।०५ बजेतक	शनि	उ०भा० अहोरात्र	१२ ,,	**भद्रा** रात्रिमें १२।५ बजेसे।
पूर्णिमा ,, १।५८ बजेतक	रवि	उ०भा० दिनमें ८।३० बजेतक	१३ ,,	**भद्रा** दिनमें १। २ बजेतक, **शरत्पूर्णिमा, श्रीवाल्मीकि-जयन्ती, मूल** दिनमें ८।३० बजेसे।

कृपानुभूति

ईश्वरकी विचित्र लीला

मेरी उम्र इस समय लगभग चौरानबे वर्षकी है और मैं बिहार-सरकारके डिप्टी-सेक्रेटरी पदसे सेवा-निवृत्त हूँ। यह घटना सन् १९६७-६८ ई०की है। उस समय मैं बिहार सरकारके अन्तर्गत कृषि विभागके अधीन कृषि अनुसन्धान संस्थान, ढोला, जिला मुजफ्फरपुरके कार्यालयमें वरिष्ठ प्रशासकीय पदाधिकारीके पदपर कार्यरत था। मुझे एक आवश्यक सरकारी कार्यसे राँची (जो आजकल झारखण्ड राज्यकी राजधानी है और उस समय अविभाजित बिहारके ही अन्तर्गत था) जाना था। एकाएक मेरे मनमें एक बात आयी कि क्यों न मैं कोलकाता होते हुए राँची जाऊँ और सरकारसे सीधे राँचीका रेल किराया लूँ तथा अतिरिक्त समयके लिये दो दिनका आकस्मिक अवकाश ले लूँ। कोलकाता जानेका मेरा एक ही अभिप्राय था कि वहाँ मैं अपनी बड़ी बहन और बहनोई (जो कोलकाताके बड़ा बाजारवाली इलाहाबाद बैंककी शाखामें प्रबन्धकके पदपर कार्यरत थे)-से मिलना चाहता था। इस तरहकी यात्रा करनेके लिये मैंने सक्षम पदाधिकारीकी अनुमति भी मैंने ले ली। इस यात्रामें विवश होकर मुझे उच्च दर्जेमें नहीं, अपितु स्लीपर क्लासमें ही यात्रा करनी थी।

उक्त यात्राके क्रममें मैंने हावड़ा स्टेशनसे हावड़ा-राँची एक्सप्रेसके स्लीपर क्लासमें राँचीके लिये एक बर्थ आरक्षित करा ली थी। हावड़ा स्टेशनपर मुझे छोड़नेके लिये मेरे बहनोई भी गये थे। मैंने गाड़ीमें अपने बर्थपर बिस्तर इत्यादि डाल दिया। गाड़ी खुलने ही वाली थी कि मेरे बहनोईके पेटमें एकाएक दर्द उठ आया। दर्द इतना तीव्र था कि वे छटपटाने लगे। मैंने सोचा कि इस दशामें मैं यदि इन्हें अकेले स्टेशनपर छोड़कर चला जाऊँ तो यह बहुत अनुचित होगा; क्योंकि एक तो ये मेरे मान्य हैं, दूसरे मुझे स्टेशनतक छोड़ने आये हैं और अचानक ही दर्दकी तीव्रतासे छटपटा रहे हैं।

अत: गाड़ी खुलते-खुलते मैंने किसी तरह अपने सामानको प्लेटफार्मपर फेंका और स्वयं भी उतर आया। गाड़ी मेरे सामने ही चली गयी। गाड़ीके जाते ही मेरे बहनोईके पेटका दर्द छू मन्तर हो गया। अब मुझे गाड़ी छोड़नेका दु:ख मनमें होने लगा। मैं घर आते समय उन्हें कोसता रहा कि आपके पेटका दर्द मात्र मेरा कार्यक्रम खराब करनेके लिये हुआ था। रातको चिन्तामें मुझे नींद भी नहीं आयी। उस समयतक टेलीविजनका प्रचलन नहीं हुआ था, लेकिन रेडियो खूब सुना जाता था। सुबहमें रेडियोसे हम लोग समाचार सुनने लगे तो यह सुनकर सन्न रह गये कि हावड़ा-राँची एक्सप्रेस घाटशिला स्टेशनके निकट गम्भीर रूपसे दुर्घटनाग्रस्त हो गयी है। साथ ही यह भी समाचार में विशेषरूपसे बताया गया कि यह दुर्घटना आजतकके इतिहासमें सबसे भीषण रेल दुर्घटना है। राँचीके ऑफिसवाले लोगोंको मेरा कोच नम्बर और बर्थ नम्बर ज्ञात था। वे लोग हमें जिन्दा या मुर्दा खोजनेके लिये दुर्घटनावाले स्थानतक आये, लेकिन उन लोगोंको यह जानकर बड़ा दु:ख हुआ कि उस कोचका एक भी मुसाफिर जिन्दा नहीं बचा था। अत: वे लोग भी थक-हारकर उदास मनसे वापस लौट गये।

अब आप ही सोचें कि इस घटनाको क्या नाम दिया जाय? यदि मैं ट्रेनमें सफर कर रहा होता तो आज जिन्दा न होता, परंतु ईश्वरकी लीला गजब है! स्टेशनपर एकाएक मेरे बहनोई साहबके पेटमें क्षणभरके लिये असह्य दर्दका उठ जाना क्या किसी दैवीय लीलासे कम लगता है? इस घटनाको आज लगभग पचास वर्ष हो गये हैं, परंतु उसकी स्मृति आज भी रोमांचित कर देती है। सचमुच ईश्वरने ही उस दिन बहनोई साहबके पेटदर्दके बहाने मेरी रक्षा की थी।

—आर०एन० लाल

पढ़ो, समझो और करो

कर्मफल

पेशवा माधवरावके समयमें रामशास्त्रीजी एक महान् पुरुष हो गये हैं। श्रीरामशास्त्री इतने पवित्र और धर्मात्मा न्यायाधीश थे कि उनका चरित्र सदा आदरणीय समझा जाता था। अपराध या भूल करनेवाले बड़े-से-बड़े आदमी भी रामशास्त्रीके नामसे भयभीत हो जाते थे। यद्यपि बड़े-बड़े पदाधिकारी तथा धनवानोंने उन्हें रिश्वत आदिका लोभ दिखाया; परंतु वे अपने चरित्रसे कभी नहीं गिरे, और न कभी किसीने उनकी ईमानदारीके विरुद्ध आवाज उठायी। वे इतने धर्मात्मा और न्यायप्रिय थे कि जब रघुनाथरावने, माधवरावके भाई और उत्तराधिकारी पेशवा नारायणरावकी हत्यामें भाग लेनेके अपराधका प्रायश्चित्त उनसे पूछा, तो उन्होंने बड़ी निर्भीकतासे कहा कि 'इस पापका प्रायश्चित्त तो तुम अपने प्राण देकर ही कर सकते हो; क्योंकि अपने भावी जीवनमें यह पाप तुमसे और तरह नहीं धोया जा सकता और इसी कारण न तुम और न तुम्हारा राज्य ही अब फूले-फलेगा। रही मेरी बात, तो जबतक शासनकी बागडोर तुम्हारे हाथमें है, तबतक मैं न तो तुम्हारी नौकरी स्वीकार करूँगा और न पूनामें पैर ही रखूँगा।' अपनी इस बातपर वे अन्ततक कायम रहे और बाईके पासके एक गाँवमें अपने जीवनके शेष दिन उन्होंने एकान्तवासमें बिता दिये।

उन्हीं दिनोंमें, जब शास्त्रीजी ऐकान्तिक भजनमें संलग्न थे, तिलहरनरेशने अपना मन्त्री एक करीतेके साथ भेजा। शास्त्रीजीको उनसे मिलनेका अवकाश नहीं। मन्त्री महोदय उसी गाँवमें टिक गये। प्रतिदिन हाजिरी देते थे, किंतु भेंट नहीं हो पाती थी। इतनेमें राजपरिवार भी दलबलके सहित वहाँ पहुँच गया। तम्बूमें डेरा पड़ा। २८ मार्च सन् १७५७ को सन्ध्या समय शास्त्रीजीकी समाधि भंग हुई और उनके बड़े-बड़े नेत्र खुल गये। इसकी सूचना वहाँ तुरंत फैल गयी। दर्शनके लिये लोग टूट पड़े। सबके लिये झरोखा-दर्शन खुला था। तिलहर-राजपरिवार भी यथासमय झरोखा-दर्शन कर गया, परंतु उसकी इच्छा थी शास्त्रीजीसे मिलकर अपना दुखड़ा रोनेकी। संयोगवशात् अवसर मिल गया। मन्त्रीने खरीता खोलकर और उसे पढ़कर सुनाया। उसमें लिखा था—'न मालूम, किस कर्मविपाकके कारण युवराज इन्द्रदमनको गलितकुष्ठ हो गया है और युवराज्ञी पक्षाघातसे लुंज हो गयी है। कृपापूर्वक इसपर विचार कीजिये और बताइये कि किस पापके कारण ऐसा हुआ और उसका प्रायश्चित्त क्या है? किस उपायसे ये कठिन रोग दूर हो सकते हैं? चिकित्सकोंने जवाब दे दिया है। वे कहते हैं कि पूर्वजन्मार्जित पापका प्रायश्चित्त हुए बिना ओषधि काम नहीं करेगी।' अनन्तर दीवानजीने कहा—'इस खरीतेको लेकर आये मुझे बहुत दिन हो गये। यह सोचकर कि आप-जैसे पवित्रात्माके दर्शनसे ही पाप कट जायगा, राजपरिवार भी यहाँ आ गया है; उसे कृतार्थ कीजिये।'

शास्त्रीजीने सब सुनकर इतना ही कहा—'मैं कोई सिद्ध पुरुष नहीं हूँ। आपहीकी तरह जन्मभर मन्त्रीका काम करता रहा हूँ। इस वृद्धावस्थामें अवकाश लेकर भगवद्भजनमें कालक्षेप कर रहा हूँ, किंतु महाराजदेवने जब आग्रहपूर्वक आपको और समस्त राजपरिवारको यहाँ भेजा है तब मेरा कर्तव्य है कि मुझसे जो कुछ हो सके उनकी भलाईके लिये यत्न करूँ। मैं इसपर विचार करूँगा और कल राजपरिवारसे भी मिलूँगा।'

दूसरे दिन शास्त्रीजी राजपरिवारसे मिले, दु:खित जनोंको सान्त्वना दी। और कहा—'मेरे विचारसे तो कोई सच्चा ज्ञानी ही पुराकृत कर्मोंका रहस्योद्घाटन कर सकता है। और भगवत्तत्त्वको तत्त्वत: जाननेवाला कोई सच्चा भक्त ही राजकुमार और युवराज्ञीको इस कठिन रोगसे मुक्त कर सकता है। ये दोनों बातें मेरी सामर्थ्यके बाहर हैं। हाँ, उपाय बता सकता हूँ। वह यही कि यहाँ सदाव्रत जारी कर दिया जाय। साधु-संन्यासी जो कोई आये उसकी सेवा हो। वर्षभरका अनुष्ठान हो। जैसे सब प्रकारके पक्षियोंको दाना चुगाते रहनेसे किसी दिन हंस भी मानसरोवरसे आ ही जाता है, उसी तरह आशा है कि एक दिन कोई सच्चा ज्ञानी एवं सच्चा भक्त भी अवश्य यहाँ पधारकर हमें कृतार्थ करेगा।'

महाराजदेव तिलहरने साधुसेवाव्रत लेना सहर्ष स्वीकार किया। शास्त्रीजीहीके प्रबन्ध और देख-रेखमें, उन्हींके आदर्शपर उसकी सुन्दर व्यवस्था हुई। उसके पाँच नियम थे—(१) जितने दिनोंतक जो साधु रहना चाहे, रह सकता

है। उसकी एकरस सेवा होती रहेगी। (२) प्रत्येक सम्प्रदायके साधु बिना किसी भेदभावके समानरूपसे पूजित और सम्मानित होंगे। (३) सबसे एक ही जिज्ञासा युवराज-युवराज्ञीके आरोग्यार्थ आशीर्वादके लिये की जायगी। (४) सेवाश्रमसे जाते समय साधुओंको पाथेय भी दिया जायगा। (५) उनकी चरणरज और चरणामृत भावके साथ सुरक्षित रखे जायँगे और यथावसर उनसे लाभ उठाया जायगा। इन्हीं नियमोंपर सेवाश्रम उस गाँवमें संचालित हुआ। वर्षभरका संकल्प था। इस अवधिमें चारों ओरके प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध महात्मा आते गये, उनकी सेवा हुई। उनके आशीर्वचन प्राप्त किये गये।

अनुष्ठानकी समाप्तिके दिन निकट आ गये, परंतु अभीतक रोगियोंके रोगकी दशा ज्यों-की-त्यों है। न तो किसी सच्चे ज्ञानीने रोगका मूल कारण बताया और न किसी सच्चे भक्तने अपने प्रभावसे आरोग्यता ही प्रदान की। शास्त्रीजी प्रतिदिन प्रत्येक साधुके पास जाकर सत्संग करते। उस सत्संगमें ये ऋग्वेदके अन्तिम युगलमन्त्रोंको अवश्य विचारार्थ उपस्थित करते थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि जो ज्ञानी उनके तात्पर्यको बता सकेगा, वही **'गहना कर्मणो गतिः'** को भी समझ सकेगा। वही ठीक-ठीक बता सकेगा कि किस मन्द कर्मका यह दुष्परिणाम है। परंतु इतने दिन बीत गये, कितने ही वैदिक विद्वान् संन्यासी आये और गये, किसीने भी उन मन्त्रोंकी व्याख्या नहीं की। अस्तु, शास्त्रीजी एक प्रकारसे निराश हो गये। वे अपने एकान्त-चिन्तनमें बैठे हुए भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! क्या अब पृथ्वीपर सच्चे ज्ञानियोंका सचमुच अभाव हो गया? ऐसा तो नहीं होना चाहिये। क्या वास्तवमें वैदिक ज्ञानका लोप हो गया?' दयासिन्धो! मुझपर दया कीजिये, नहीं तो लोगोंका विश्वास धर्म-कर्मसे उठ जायगा।

इस प्रकार चिन्तन करते-करते उसी चिन्तामें शास्त्रीजी सो गये। उन्होंने स्वप्नमें देखा कि सरोवरमें एक कमल खिला हुआ है और उसकी पंखुड़ियोंपर एक मुनि बैठा हुआ है। गोमुखीमें हाथ डाले कुछ जप रहा है। जपकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी। यह ध्वनि उस वातावरणमें गूँजने लगी।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

उच्चारण करते-करते ये उसी ध्वनिके साथ मुनिकी सन्निधिमें प्राप्त होकर, अपना अस्तित्व मिटाकर, उन्हींमें प्रविष्ट होकर एकमन, एकहृदय एवं एकाकार हो गये।

प्रातःकाल देखा गया कि भजन-गुफामें शास्त्रीजीका शरीर निर्जीव पड़ा हुआ है। समाचार फैलते ही कुहराम मच गया। सब लोग दौड़ पड़े। 'बड़ा अनर्थ हो गया' की आवाजें चारों ओरसे आने लगीं। उसी समय सबको आश्चर्यमें डालते हुए एक तेजस्वी महात्मा वहाँ आ गये। वे बड़े ही रूपवान् थे। बड़ी-बड़ी आँखें थीं। जपमालिका वक्षःस्थलपर झूल रही थी। उनके आते ही सबकी दृष्टि उन्हींकी ओर आकर्षित हो गयी। वे शास्त्रीजीके मस्तकको स्पर्श करके कुछ मन्त्र पढ़ने लगे, मालिका उनके सिरपर रख दी। शास्त्रीजी तुरत जी उठे। चरणोंमें पड़े। ये वही महात्मा थे, जिनको शास्त्रीजीने स्वप्नमें देखा था।

महात्मा—'शास्त्रीजी! क्या आप युगलमन्त्रोंका अर्थ जानना चाहते हैं?'

शास्त्रीजी—'हाँ, भगवन्! ऐसी ही इच्छा है। अर्थ भी बताइये और संकेत भी समझाइये।'

महात्मा—'अच्छा, सुनिये।' मन्त्रार्थ—'तुम सब मित्रभावसे रहो। परस्परका विरोधभाव छोड़ो। एक मन होकर भाषण करो। निज-निज मनोवृत्तिकी गतिविधि एक ही ओरको रहने दो। जिस प्रकार अनादि देवता एकमतसे अपना-अपना हविमार्ग ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी मत-मतान्तरके वैमनस्यको त्यागकर इष्टफलकी प्राप्तिकी ओर ध्यान रखो। अपना निश्चय एक रहने दो। अन्तःकरणोंको एक रूपका बनाओ। तुम्हारे मन समान हों। तुम्हारे हृदय एक-से हों, सर्वत्र समानता रहे।' मन्त्रार्थका संकेत तो समाजधारणरूपी सामान्य धर्मकी ओर है और स्पष्टार्थका संकेत पंचक्लेशकी निवृत्तिकी ओर है। व्यंग्यार्थका संकेत व्यष्टिसे निकलकर समष्टिमें समाकर आत्मैकदृष्टिसे भगवद्भजनकी ओर है।

शास्त्रीजी मन्त्रार्थ और भावार्थ सुनकर कृतार्थ हो गये। अनन्तर उन्होंने राजकुमारके रोगका वृत्तान्त तथा संवत्सरव्यापी साधुसेवाकी चर्चा करते हुए प्रारब्धभोगका कारण पूछा। मुनिने कहा—'चलो, रोगीके पास चलें; उन्हींके सामने कहेंगे।'

अस्तु, राजपरिवारमें मुनिराजके पधारनेकी व्यवस्था

हुई। युवराज एवं युवराज्ञीकी दयनीय दशा देखकर मुनिराजका हृदय करुणरससे भर गया। वे बोले—'पाप करते हुए, दूसरेको सताते हुए, यदि मनुष्य उसके परिणामको सोचे, तो उससे बहुत कुछ बच सकता है, परंतु उस समय उसकी बुद्धिपर ऐसा आवरण पड़ जाता है कि वह विवेकशून्य होकर जो जीमें आता है, कर बैठता है। पूर्वजन्ममें अहोबलमें एक लक्षाधिपति श्रेष्ठी थे। बड़े शिवभक्त और बड़े दानी। गरीबोंके लिये उनका सत्र सदा खुला रहता था। सभी तीर्थोंमें धर्मादाय स्थापित था। उसी पुण्यके प्रभावसे सेठजीका जन्म राजकुलमें हुआ है। परंतु युवावस्थाके मदसे उन्मादित होकर उन्होंने अपनी ही अनुजवधूके साथ रति की। यह बात उनकी अपनी स्त्रीसे नहीं देखी गयी। घरमें कलह उत्पन्न हुआ। अनुजवधूने सेठके सहयोगसे उनकी धर्मपत्नीको खूब पीटा और उस बेचारीको, उसके आठों अंग रस्सीसे कसकर, बाँध, उसके मुखमें कपड़ा ठूँसकर, बोरीमें कसकर कूपमें डाल दिया। इसी दुष्कृतिका यह परिणाम है। सेठ राजकुमार है, अनुजवधूसे रति करनेके कारण कुष्ठरोगसे पीड़ित है और युवराज्ञी वही उसकी अनुजवधू है, जिसने अपनी जेठानीकी दुर्गति की थी।' इतना कहकर मुनिराजने अपनी जपमालिका उन दोनोंके सिरपर फेर दी। उन दोनोंको स्वत: पूर्वजन्मकी स्मृति हो गयी। वे चिल्ला उठे 'महाराज! हम बड़े पापी हैं, वही हैं, वही हैं, जो आपने कहा और अपनी करनीका फल भोग रहे हैं। ऐसे और भी बहुत पाप हैं, जो आँखोंके सामने नाच रहे हैं। उन सबका भंडाफोड़ मत कीजिये।' समुपस्थित लोग सब वृत्तान्त सुनकर और उनकी करुण दशा देखकर रो पड़े। मुनिराजसे पातकहरणके लिये प्रार्थना करने लगे। कोमलहृदय शास्त्रीजीने आँखोंमें आँसू भरकर कहा—'दयानिधे! राजकुमार-दम्पती····दया करके इनका कष्ट छुड़ाइये।' तब मुनिराजने कहा—'यह मेरी सामर्थ्यसे बाहर है। यह तो किसी भक्तकी कृपासे ही साध्य है, नहीं तो प्रारब्ध कर्मकी गतिको भगवान् भी नहीं फेर सकते। चूँकि भगवान् भक्तोंके पराधीन हैं, इसलिये भक्तके इच्छानुसार विवश होकर अपने नियमोंको बदल देते हैं। इसी गाँवमें एक सच्चे भक्त रहते हैं। यदि वे कृपा करके यहाँ पधारें और उनका चरणतीर्थ उतारा जाय और इन रोगियोंको पिलाया जाय तो तुरत इनका कल्याण हो जाय। वे गाँवके पश्चिम एक बगीचेमें रहते हैं। धेनु चराते हैं और समयपर घर जाकर भोजन कर आते हैं।'

उनका नाम कासी कहार है। वे महात्मा कबीरदासजीकी शिष्य-परम्परामें हैं। आशा है कि इतना परिचय देनेपर उन महानुभावको आप लोग समझ गये होंगे। समुपस्थित एक व्यक्तिने कहा—'मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ और उन्हें अभी बुला लाता हूँ।' यह कहकर वह उन्हें बुलाने चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने उनसे कहा—'भक्तजी, गाँवमें एक अद्भुत महात्मा आये हुए हैं। सच्चे ज्ञानी हैं। पूर्वजन्मके सब पाप-पुण्य बता देते हैं। तुरत चलकर दर्शन कर लीजिये, नहीं तो उनके चले जानेपर पछताना पड़ेगा। सरलस्वभाव भक्तजी उस व्यक्तिके साथ बिना किसी ननु न च के चले आये। दूरपर खड़े होकर भक्तजी मुनिराजके दिव्य दर्शनसे कृतार्थ होकर सजल नेत्रोंसे भव्यमूर्तिको देखते हुए दण्डवत् पृथ्वीपर लोट गये। उस व्यक्तिने उसी समय भीतर जाकर कहा—'भगवन्! भक्तजी आ गये और आपको साष्टांग प्रणाम कर रहे हैं।' इस बातको सुनते ही महामुनि दौड़ पड़े। भक्तजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। अनन्तर मुनिराज उन्हें बाँह पकड़कर भीतर ले गये और अपने समान आसनपर उन्हें बैठाना चाहा, परंतु भक्तजीने रो दिया। इस रुलाईमें न जाने क्या जादू भरा हुआ था कि समुपस्थित सब-के-सब रोने लगे। क्या युवराज-युवराज्ञी, क्या प्रकाण्ड पण्डित शास्त्रीजी और मुनिराज और क्या साधारण ग्रामीण जनता—सबकी आँखोंसे झरने बह चले और ऐसी बाढ़ आयी कि सबके हृदय प्लावित हो गये। जो ग्रामवासी वहाँ आ जाता था, उसकी भी वही दशा होती थी। रोते-रोते, आँसू बहाते-बहाते युवराज और युवराज्ञी चंगे हो गये। दोनोंके रोग दूर हो गये। स्फूर्ति आते ही युवराज्ञी सेजसे उतरकर भक्तजीके चरणोंमें लिपट गयी और आँसुओंसे उन चारु चरणोंको धोने लगी। तब भक्तजीकी रुलाई बन्द हुई और वे उठकर भागे। भागते-भागते अपने बगीचेमें पहुँच गये। अब सब लोग धीरे-धीरे करुणासरित्‌को पार करके किनारेपर पहुँचकर साँस लेने लगे। होश होते ही मुनिराजजी भी खिसक गये।

शास्त्रीजीके हृदयपर तो इस घटनाका गहरा प्रभाव पड़ा। किसी तरह उन्होंने संवत्सरी साधुसेवा-यज्ञ समाप्त करके राजपरिवारसमेत सबको विदा किया। आप भी नीलाचलको चल दिये।—**बालकरामजी विनायक**

मनन करने योग्य

अधिक चंचलता उचित नहीं

प्राचीनकालकी बात है, सूर्यवंशमें शर्याति नामके एक राजा थे। उनके नगरके समीप ही मानसरोवरके तुल्य एक सरोवर था। महर्षि भृगुका च्यवन नामक एक बड़ा ही तेजस्वी पुत्र था। वह इस सरोवरके तटपर तपस्या करने लगा। वह मुनिकुमार बहुत समयतक वृक्षके समान निश्चल रहकर एक ही स्थानपर वीरासनमें बैठा रहा। धीरे-धीरे अधिक समय बीतनेपर उसका शरीर तृण और लताओंसे ढक गया। उसपर चीटियोंने अड्डा जमा लिया। ऋषि बाँबीके रूपमें दिखायी देने लगे। वे चारों ओरसे केवल मिट्टीका पिण्ड जान पड़ते थे। इस प्रकार बहुत काल व्यतीत होनेके बाद एक दिन राजा शर्याति इस सरोवरपर क्रीड़ा करनेके लिये आये। उनकी चार सहस्र सुन्दर रानियाँ और एक सुन्दर भ्रुकुटियोंवाली कन्या थी। उसका नाम सुकन्या था। वह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित कन्या अपनी सहेलियोंके साथ विचरती उस च्यवनजीकी बाँबीके पास पहुँच गयी। उसने उस बाँबीके छिद्रमेंसे च्यवनजीकी चमकती हुई आँखोंको देखा। इससे उसे बड़ा कुतूहल हुआ। फिर बुद्धि भ्रमित हो

जानेसे उसने उन्हें काँटेसे छेद दिया। इस प्रकार आँखें फूट जानेसे च्यवनमुनिको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बन्द कर दिये। मल-मूत्र रुक जानेसे सेनाको बड़ा कष्ट हुआ। यह दशा देखकर राजाने पूछा, 'यहाँ निरन्तर तपस्यामें निरत वयोवृद्ध महात्मा च्यवन रहते हैं। वे स्वभावसे बड़े क्रोधी हैं। उनका जानकर अथवा बिना जाने किसने अपकार किया है? जिससे भी ऐसा हुआ हो, वह बिना विलम्ब किये तुरंत बता दे।'

राजाके ऐसा पूछनेपर दु:खसे व्याकुल हुए सैनिकोंने उनसे कहा—हम लोगोंके द्वारा मन-वाणी-कर्मसे मुनिका कुछ भी अपकार हुआ हो—इसे हम लोग नहीं जानते।

जब सुकन्याको ये सब बातें मालूम हुईं तो उसने कहा, 'मैं घूमती-घूमती एक बाँबीके पास गयी थी। उसमें मुझे एक चमकता हुआ जीव दिखायी दिया। वह जुगनू-सा जान पड़ता था। उसे मैंने बींध दिया।' यह सुनकर शर्याति तुरंत ही बाँबीके पास गये। वहाँ उन्हें तपोवृद्ध और वयोवृद्ध च्यवनमुनि दिखायी दिये। उन्होंने उनसे हाथ जोड़कर सेनाको क्लेशमुक्त करनेकी प्रार्थना की और कहा कि 'भगवन्! अज्ञानवश इस बालिकासे जो अपराध बन गया है, उसे क्षमा करनेकी कृपा करें।' तब भृगुनन्दन च्यवनने राजासे कहा, 'इस गर्वीली छोकरीने अपमान करनेके लिये ही मेरी आँखें फोड़ी हैं। अब मैं इसे पत्नीरूपमें पाकर ही क्षमा कर सकता हूँ। अन्धा हो जानेके कारण मैं असहाय हो गया हूँ, अत: इसे ही मेरी सेवा करनी होगी।'

यह बात सुनकर राजा शर्यातिने बिना कोई विचार किये महात्मा च्यवनको अपनी कन्या दे दी। उस कन्याको पाकर च्यवन मुनि प्रसन्न हो गये और उनकी कृपासे क्लेशमुक्त हो राजा सेनाके सहित अपने नगरमें लौट आये। सती सुकन्या भी अपने तप और नियमोंका पालन करती हुई प्रेमपूर्वक अपने तपस्वी पतिकी परिचर्या करने लगी।

इस प्रकार अपनी चंचलताके कारण सुकन्याको वनमें निवास करना पड़ा और वृद्ध ऋषिसे विवाह करना पड़ा। अत: अधिक चंचलता और बिना विचारे किया गया अविवेकपूर्ण कार्य दु:खदायी होता है।

[महाभारत-वनपर्व, श्रीमद्देवीभागवत-सप्तम स्कन्ध]